

## लोकसभा चुनाव 2014

### यह तो पतन की पराकाष्ठा है

खबर है  
कि जनता ने सरकार का विश्वास  
खो दिया है,  
क्या सरकार के लिए  
यह मुनासिब नहीं  
कि वह इस जनता को भंग कर दे  
और अपने लिए  
कोई दूसरी जनता चुन ले?

-बर्तोल्त ब्रेख्त

चुनाव की घोषणा होते ही संसदीय राजनीति के पतित, घृणित और विद्रूप चेहरे एक-एक कर सामने आने लगे। हर तरह के आदर्शों और सिद्धान्तों को ताक पर रख कर सभी पार्टियाँ किसी भी कीमत पर वोट जुटाने में लगी हैं। सिर से पाँव तक भ्रष्टाचार और अपराध के पंक में लिथड़े, परले दर्जे के अवसरवादी नेता अपनी फूटपरस्ती, गुण्डागर्दी, काले धन्धे की कमाई और ऐसे ही तमाम हथकण्डे अपना कर चुनावी वैतरणी पार करने में जुट गये हैं। जातिवाद, इलाकावाद और फिरकापरस्ती का जहर फैलाकर वोटों का ध्रुवीकरण करने की होड़ में सब एक-दूसरे को मात देने में लगे हैं। कोई इस पार्टी को छोड़कर उस पार्टी में जा रहा है तो कोई इस मोर्चे को छोड़ कर उस मोर्चे में शामिल हो रहा है। वादों, मुद्दों और घोषणाओं को परे ठेल कर नये-नये मोर्चे और गठबन्धन बन-बिगड़ रहे हैं। दावे के साथ यह कह पाना मुश्किल है कि आज की तारीख में कौन सा नेता किस पार्टी में है और कौन सी पार्टी किस मोर्चे में।

कुछ साल पहले अटल बिहारी वाजपेयी ने कहा था कि संसदीय प्रणाली एक स्वांग बन कर रह गयी है। लगता है कि स्वांग करने वाले लोग अब उससे भी आगे निकल गये हैं। उन्होंने अपने-अपने मुखौटे और लबादे उतार कर फेंक दिये हैं और पूरी तरह नंगे होकर अपना कौतुक दिखा रहे हैं।

भ्रष्टाचार का आलम यह है कि पिछले पाँच वर्षों में न केवल केन्द्र की सरकार बल्कि तमाम राज्य सरकारों में शामिल नेताओं ने लूट-खसोट और घोटालों के नये-नये कीर्तिमान

स्थापित किये। भ्रष्टाचार के खिलाफ जनता में व्याप्त घृणा और आक्रोश को ठण्डा करने के लिए अन्ना हजारे की अगुआई में जनलोकपाल आन्दोलन चलाया गया और उसी के एक धड़े द्वारा अरविन्द केजरीवाल के नेतृत्व में आम आदमी पार्टी का गठन किया गया। यह पार्टी भी भ्रष्टाचार की जड़ों पर प्रहार करने के बजाय सिर्फ उसकी पत्तियाँ तोड़ने की बात करती है। लेकिन सर से पाँव तक भ्रष्टाचार में सनी पार्टियाँ और उनके नेता इतने से ही भयाक्रान्त हैं और बौखलाये हुए हैं। इस पार्टी का भविष्य क्या होगा, यह इसने अपनी पहली पाली में ही दिखा दिया जब इसने एक भ्रष्टतम पार्टी के सहयोग से दिल्ली में सरकार बनायी। पूरी सम्भावना है कि आम आदमी पार्टी भी उन्हीं पार्टियों की कतार में शामिल हो जाय, जिनके विरोध के नाम पर इसका प्रादुर्भाव हुआ था।

अखबार, टीवी, रेडियो और उनके सुर में सुर मिलाने वाले सुविधाभोगी भद्रजन आजकल आम जनता को वोट डालने के लिए प्रेरित-प्रोत्साहित कर रहे हैं। वे आम लोगों से अपील कर रहे हैं कि इन्हीं भ्रष्टों में से कम भ्रष्ट, पतितों में से कम पतित, अपराधियों में से कम अपराधी और दगाबाजों में से कम दगाबाज को ठेल-ठाल कर संसद में पहुँचा दें, ताकि लोकतंत्र की आड़ में भ्रष्टतंत्र का यह खेल जारी रहे। ढेर सारे लेखक, पत्रकार और बुद्धिजीवी भी लोकतंत्र की वर्तमान दुर्दशा और व्यवस्था में ऊपर से नीचे तक व्याप्त भ्रष्टाचार का रोना रोते हुए सतही सुधारों और नीम हकीमी नुस्खों पर रोज बेशुमार कागज काले कर रहे हैं। लेकिन कोई भी इस समस्या की तह में जाने और इसका स्थायी समाधान तलाशने के लिए तैयार नहीं हैं।

जिस देश की 80 करोड़ जनता 20 रुपये रोज पर जिन्दगी बसर करती हो, जहाँ 76 फीसदी लोगों को भरपेट भोजन नसीब न हो, मेहनतकश जनता एक तरफ मंदी से उत्पन्न बेकारी और मजदूरी में कटौती तथा दूसरी ओर कमरतोड़ महँगाई से त्रस्त हो, सरकारी सस्ते राशन की दुकानें बन्द पड़ी हों, गरीब जनता के लिए दवा-इलाज, पढ़ाई-लिखाई और रोजी-रोजगार को कोई इन्तजाम न हो, जहाँ आत्महत्या रोजमर्रे की सामान्य घटना हो गयी हो, जहाँ बात-बात पर लोगों पर लाठी-गोली चलाई जाती हो, जहाँ लोकतंत्र केवल मुट्ठी भर लोगों की शानो-शौकत, राजसी ठाटबाट और बेपनाह धन-दौलत बटोरने का जरिया बन गया हो, वहाँ इस व्यवस्था के हाशिए पर फेंक दिये गये करोड़ों बदहाल लोगों से भला यह उम्मीद कैसे की जा सकती है कि वे अभिजातों के इस महाकुम्भ में आकर डुबकी लगाएँ। इस देश के रहनुमा वैसे तो कभी भी जनता के हितैषी नहीं रहे, लेकिन पहले वे गरीबी-बदहाली मिटाने के वादे करते थे और लोकलुभावन नारों के दम पर चुनाव लड़ते थे। अब तो हालत यह है कि इन खुदगर्ज नेताओं की झोली में 'गरीबी हटाओ' जैसे खोखले नारे और झूठे वादे भी नहीं हैं। ऐसे में यह स्वाभाविक है कि उनके प्रति नफरत के कारण लोगों ने उनसे मुँह फेर लिया।

सच तो यह है कि चुनावों में जो आधे-तिहाई वोट पड़ रहे हैं वे भी लोकतंत्र, नेताओं या पार्टियों में लोगों की आस्था के कारण नहीं, बल्कि उन धूर्त और चालबाज नेताओं द्वारा अपनाये गये भ्रष्ट और गैरकानूनी तौर-तरीकों का नतीजा हैं, जिनकी खुद भी इस लोकतंत्र में लेशमात्र भी आस्था नहीं है। जब कभी लोकतांत्रिक संस्थाएँ और कायदे-कानून इनके स्वार्थों की पूर्ति में बाधा बनते हैं, तो वे उन्हें उठाकर कूड़े में फेंक देते हैं। कदम-कदम पर कानून का अपमान करना और खुद को उससे ऊपर समझना इनका विशेषाधिकार है, जबकि इन्हीं कानूनों को आम जनता के ऊपर पूरी सखी से लागू किया जाता है।

क्या हमारे देश में सचमुच लोकतंत्र है?

लोकतंत्र के महापर्व के नाम पर आज चुनाव के दौरान जो-जो हो रहा है, क्या लोकतंत्र का इससे भी भद्दा मजाक हो सकता है?

सच तो यह है कि भारत में लोकतंत्र अपनी जमीन से प्रस्फुटित और पुष्पित-पल्लवित नहीं हुआ। यह ऊपर से आरोपित व्यवस्था है। जनता के बहुलांश को इस लोकतंत्र के निर्माण की प्रक्रिया से पूरी तरह अलग-थलग रखा गया। सच्चे लोकतंत्र की स्थापना के लिए यह न्यूनतम शर्त थी कि देश के सभी वयस्क नागरिकों के मत से आजाद भारत की नयी संविधान सभा चुनी जाती जिसमें यहाँ के सभी वर्गों, तबकों, जातियों, धर्मों, इलाकों और भाषाभाषियों का प्रतिनिधित्व होता। लेकिन अंग्रेजों द्वारा हस्तान्तरित राजसत्ता के उत्तराधिकारी, देश के नये शासक वर्गों ने ऐसा नहीं होने दिया। इसके बजाय गुलाम भारत में अंग्रेजी हुकूमत के मातहत ऊपरी तबके के 13 फीसदी लोगों द्वारा जो विधान सभा चुनी गयी थी, उसे ही उन्होंने संविधान सभा में बदल दिया। इन्हीं मुट्ठी भर लोगों द्वारा बनाये गये संविधान को 87 फीसदी लोगों पर थोप दिया गया, जिनकी उसमें न तो कोई भागीदारी थी और न ही उनकी सहमती ली गयी थी।

कुछ वर्ष पहले नेपाल की जनता ने वहाँ सदियों से चले आ रहे सामंती, स्वेच्छाचारी राजशाही शासन को समाप्त किया और लोकतंत्र की स्थापना के लिए नयी संविधान सभा का गठन किया। इस संविधान सभा में नेपाल में रहने वाले सभी वर्गों, तबकों, जनजातियों, पिछड़े वर्ग और इलाकों तथा अल्पसंख्यकों को आनुपातिक प्रतिनिधित्व दिया गया, ताकि संविधान बनाने की प्रक्रिया में जनता के सभी हिस्सों की भागीदारी सुनिश्चित हो। दक्षिण एशिया के किसी भी देश में अब तक ऐसी कोई संविधान सभा गठित नहीं हुई जो नेपाल के क्रान्तिकारी जनज्वार से उत्पन्न हुई इस संविधान सभा की किसी भी मायने में बराबरी कर सके। नेपाल की जनता— मजदूर-किसान, शहरी-देहाती, मैदानी-पहाड़ी, शिक्षित-अशिक्षित, स्त्री-पुरुष सबने लोकतांत्रिक कार्रवाइयों में, बहस-मुबाहिसे, रैली-जुलूस और मतदान में बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया। सुदूरवर्ती इलाकों में रहने वाले सदियों से अलग-थलग पड़े उपेक्षित और तिरस्कृत जनजातियों के लोगों को भी इस लोकतंत्र के निर्माण में भागीदार

बनाया गया। हालाँकि वहाँ संविधान निर्माण की प्रक्रिया बाधित हुई है, फिर भी, नेपाल की जनता हर एक राजनीतिक घटनाक्रम पर सतर्कता पूर्वक निगाह रखती है और उस पर अपनी बेबाक राय देती है।

सदियों से हमारा देश जाति, धर्म, भाषा और क्षेत्र के असंख्य खानों में बँटा हुआ था। राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान राष्ट्रवादी नेताओं ने जनता को एकजुट करने का भरसक प्रयास किया। आजादी की लड़ाई में विभिन्न धर्मों, जातियों, इलाकों और भाषाओं के लोगों ने हिस्सेदारी की। यह एकजुटता कुछ हद तक आजादी के बाद कुछ वर्षों तक कायम रही। तब राजनीतिक पार्टियाँ और उनके नेता मूलतः अपनी-अपनी नीतियों और नारों के आधार पर चुनाव लड़ते थे। लेकिन '60 के दशक तक पूँजीवादी आर्थिक-राजनीतिक संकट के साथ-साथ संसदीय लोकतंत्र की सीमाएँ भी सतह पर आने लगीं। समाज को आगे ले जाने और जन-आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए क्रान्तिकारी बदलाव जरूरी था। जाहिर है कि पूँजीवादी पार्टियाँ और उनके नेता इस ऐतिहासिक दायित्व को पूरा नहीं कर सकते थे। यथास्थिति को बनाये रखने के लिए देश के खुदगर्ज और जनविरोधी नेताओं ने अंग्रेजों की 'फूट डालो - राज करो' की नीति पर अमल करना शुरू किया। स्थिति यह है कि फूटपरस्ती आज चुनावी राजनीति की सर्वाधिक आजमायी हुई और अचूक रीति-नीति बन चुकी है। 52-57 के चुनावों में कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था कि अपराधी, हत्यारे, भ्रष्ट और निकम्मे लोग किसी पार्टी के टिकट पर सीधे चुनाव लड़ेंगे।

यह संसदीय राजनीति के पतन की पराकाष्ठा है कि देश को गृहयुद्ध की आग में झोंक कर भी अपनी कुर्सी बचाने में यहाँ के नेताओं को कोई गुरेज नहीं। गुजरात नरसंहार के मुजरिम भारी बहुमत से जीत कर सरकार चलाते हैं, पूँजीपति घरानों के चहेते हैं, चुनाव में स्टार प्रचारक हैं और प्रधानमंत्री बनने का ख्वाब देख रहे हैं। चुनावी सभाओं में मुस्लिम समुदाय के खिलाफ जहर उगल कर कोई भी नेता रातों-रात देश भर में चर्चा का विषय बन जाता है। मीडिया इस पूरी नौटंकी का धुआँधार प्रचार करता है। सस्ती लोकप्रियता और आसानी से वोट पाने के लिए जाति-धर्म के नाम पर लोगों में नफरत फैलाने और दंगे करवाने वाले नेता, जनता की लाश पर पैर रखते हुए संसद के गलियारों में पहुँच जाते हैं। साम्प्रदायिकता को हवा देकर कोई भी पार्टी सामयिक रूप से बहुसंख्यक हिन्दू वोट हासिल कर सरकार बना सकती है (हालाँकि इसकी सम्भवाना कम ही है क्योंकि दूसरी ताकतें भी उपस्थित और सक्रिय हैं।) लेकिन इस संकीर्णता और अदूरदर्शिता के परिणामस्वरूप देश में एक ऐसे बँटवारे और गृहयुद्ध की नींव पड़ेगी जो महाभारत के अंधा युग को पीछे छोड़ देगा। हिन्दू राष्ट्र के ध्वजवाहकों का समाज कैसा होगा, इसकी कल्पना करना भी कठिन है। तालिबान तो औरतों की शिक्षा-दीक्षा और सामाजिक भागीदारी के खिलाफ हैं, लेकिन हिन्दुत्व के नाम पर राजनीति करने वाले औरतों के जिन्दा जलाये जाने

(सती प्रथा) का भी समर्थन और महिमामण्डन करते हैं। अफगानिस्तान और पाकिस्तान फिरकापरस्त राजनीति का अभिशाप झेल रहे हैं और एक मजबूत राष्ट्र युगोस्ताविया टुकड़े-टुकड़े में बिखर गया है।

दरअसल भारतीय समाज में, इसकी प्राथमिक इकाई परिवार में, सामाजिक संस्थाओं और संगठनों में लोकतांत्रिक मूल्यों का नितान्त अभाव है। जाति व्यवस्था, जो सामन्ती व्यवस्था का सबसे घृणित और चिरस्थायी सामाजिक आधार है। समाज को ऊँच-नीच, छूत-अछूत, दलित-सवर्ण और अगड़े-पिछड़े जैसे सैकड़ों खानों में बाँटती है। जातिगत पेशों पर आधारित पुरानी जजमानी या प्रजा-पौनी व्यवस्था में जमीन पर सवर्ण जातियों का मालिकाना सामन्ती शोषण-उत्पीड़न का आर्थिक आधार था। जमीन पर किसानों को मालिकाना हक दिलाना दुनिया भर में पूँजीवादी जनवादी क्रान्तियों का प्रमुख कार्यभार रहा है। हमारे देश में आजादी के बाद आधे-अधूरे भूमि सुधार के चलते पुरानी सामन्ती व्यवस्था का आधार काफी कमजोर हुआ है, लेकिन आमूल भूमिसुधार न होने और सदियों से खेती करते आ रहे बहुसंख्य दलितों, पिछड़ी जातियों, आदिवासियों को जमीन से वंचित रखने के कारण सामन्ती मूल्यों-विचारों को प्रश्रय देने वाली जाति प्रथा आज भी कायम है। संसदीय राजनीति के मौजूदा पतनशील दौर में सभी पार्टियों के नेता जनता में व्याप्त जातिगत भावनाओं को भुनाकर अपने स्वार्थ की पूर्ति करते हैं। यही कारण है कि जातिवाद का जहर दिनो-दिन बढ़ता जा रहा है।

इस पुस्तिका में प्रकाशित लेखों में भारतीय लोकतंत्र की वर्तमान दशा के विभिन्न पहलुओं की छानबीन करने का प्रयास किया गया है। इसके लेख **देश-विदेश** पत्रिका के नवें अंक, अप्रैल 2009 में प्रकाशित हुए थे। इन पाँच वर्षों के अन्तराल में अन्ना आन्दोलन के गर्भ से आम आदमी पार्टी के जन्म को छोड़कर कोई खास बदलाव नहीं हुआ है। इतना जरूर हुआ है कि लोकतंत्रका यह स्वांग और विद्रूप, पहले से असहाय हो गया है।

आज पूँजीपरस्त मीडिया— टीवी, रेडियो, अखबार और पत्र-पत्रिकाएँ देश की राजनीति और लोकतंत्र पर भ्रष्टाचार, अपराध, वंशवाद, साम्प्रदायिकता, जातिवाद और क्षेत्रवाद के पूरी तरह हावी होने का दिन-रात रोना रोते हैं। वे इन बुराइयों को खत्म करने के लिए जनता से भावुकता भरी अपील करते हैं और लोकतंत्र की पवित्रता को बचाने के लिए तरह-तरह के अभियान चलाते हैं। लेकिन इस समस्या के कारणों पर गम्भीरता से विचार किए बिना सच्चे लोकतंत्र की बात करना बेमानी है। यह पुस्तिका इसी दिशा में एक विनीत प्रयास है।

# भारतीय लोकतंत्र की कुछ मूलभूत समस्याएँ

-अरविन्द

लोकसभा चुनाव की सरगर्मियाँ तेज हो चुकी हैं। संसदीय पार्टियाँ और उनके नेता जैसे तो जनता से और उसके दुःख-दर्द से कोसों दूर रहते हैं, लेकिन आज जनता का हितैषी होने का दावा करने लगे हैं। चुनावी महासमर में हर पार्टी, हर नेता लोकतंत्र की और संविधान की दुहाई देता नजर आ रहा है, भले ही उसे वास्तव में लोकतंत्र पर विश्वास हो या नहीं। वे वोट देने को लोकतंत्र का समानार्थी बताकर जनता को भ्रमाने का काम कर रहे हैं।

पार्टियों के घोषणापत्र छप चुके हैं। लेकिन उनके नेता, कार्यकर्ता और बहुलांश जनता भी, इस बात को जानते हैं कि घोषणापत्र केवल कागजी हैं, वास्तव में चुनाव का गणित जाति, धर्म, सम्प्रदाय और क्षेत्र के समीकरण पर टिका होता है। ऐसी स्थिति में इस विषय पर विचार करना जरूरी है कि भारत के लोकतंत्र की शुरुआत कैसे हुई, इसका इतिहास क्या है और किन-किन पड़ावों से गुजरता हुआ यह इस अवस्था तक पहुँचा।

## भारतीय लोकतंत्र का संक्षिप्त इतिहास

भारत में लोकतंत्र की आधारशिला अंग्रेजी हुकूमत के अधीन बना गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया एक्ट है जो कांग्रेस की समझौतापरस्त नीतियों और आधे मन से किये गये संघर्षों का परिणाम था। 1928 में साइमन कमीशन की नियुक्ति के साथ ही, जिसका लाला लाजपत राय और शहीद भगत सिंह व उनके क्रान्तिकारी साथियों ने प्रबल विरोध किया था, एक यंत्रणादायी प्रक्रिया शुरू हुई, जो अगस्त 1935 में गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया एक्ट के साथ पूरी हुई। संविधान-निर्माण की इस प्रक्रिया में वस्तुतः 1932 से भारतीयों की कोई भागीदारी नहीं रही। गवर्नरों को “विशेषाधिकार” और “विवेकाधीन शक्तियों” के नाम पर तानाशाही के अधिकार दे दिये गये और मंत्रियों को कई मामलों में सलाह देने तक के अधिकार से वंचित कर दिया गया। दरअसल, यह स्वाधीनता संग्राम की विस्फोटक शक्ति को ‘सेफ्टीवाल्व’ के जरिये नियंत्रण में रखने और उसे ठण्डा करने के लिए अंग्रेजों द्वारा किये गये तुच्छ सुधार के अलावा कुछ नहीं था।

1935 के इसी कानून के तहत प्रान्तों की असेम्बलियाँ अस्तित्व में आयीं और अंग्रेजी हुकूमत के मातहत तथाकथित लोकतंत्र की विभिन्न संस्थाओं का निमार्ण किया

गया। इन सीमित अधिकारों को और कम करने के लिए 1935 में ही गवर्नर एक्ट बनाया गया, जिसके अनुसार गवर्नर प्रान्तीय प्रशासन को अनिश्चितकाल तक के लिए अपने हाथ में ले सकता था। इतना ही नहीं, प्रस्तावित संघीय संरचना तभी लागू हो सकती थी, जब 50 प्रतिशत रजवाड़े, जो अंग्रेजों के सामाजिक आधार और उनके हिमायती थे, इसके लिए औपचारिक सहमति दें। केन्द्र की दो सदनों (काउंसिल ऑफ स्टेट और फेडरल असेम्बली) वाली विधायिका में 30 से 40 प्रतिशत सीटें रजवाड़ों द्वारा नामांकित करने का प्रावधान था। इसके अलावा ब्रिटिश निर्वाचक मण्डलों को भी पर्याप्त प्रतिनिधित्व दिया गया था।

इस तरह लोकतंत्र के पंखों को कतर कर भारत में जो लोकतंत्र लागू किया गया उसमें सभी वयस्क भारतीयों को वोट देने का अधिकार नहीं था। यह अधिकार उच्च शिक्षित और सम्पत्तिशाली वर्गों तक ही सीमित था, जिनकी संख्या कुल आबादी का केवल 13 प्रतिशत थी। आबादी का 87 प्रतिशत हिस्सा- मजदूर, किसान, व्यापारी, मध्यवर्ग के विभिन्न पेशों से जुड़े लोग और आम जनता वोट देने के अधिकार से सर्वथा वंचित थी।

स्वतंत्रा संग्राम के परिणामस्वरूप जब आजादी मिल गयी तो 13 प्रतिशत सम्पत्तिशाली वर्गों और राजे-रजवाड़ों द्वारा चुनी हुई सभा को ही संविधान सभा में तब्दील कर दिया गया। इस संविधान सभा ने 1935 के एक्ट को आधार बनाकर भारत का संविधान रचा। सम्पत्तिशाली वर्गों की यह सभा किसके हित को ध्यान में रखकर भारत का संविधान बनाती, यह पहले ही स्पष्ट था। इस संविधान में सम्पत्ति की रक्षा का अधिकार तो दिया गया लेकिन सम्पत्तिहीन वर्गों के लिए रोजगार की गारण्टी नहीं की गयी जिसके बिना जिन्दा रहने का अधिकार भी बेमानी है।

इस तरह, 1950 में दुनिया का ‘सबसे बड़ा लोकतंत्र’ ‘सबसे बड़ा संविधान’ अस्तित्व में आया, जो मेहनतकश जनता से कोसों दूर था और आम जनता के सपनों के लिए उसमें कोई जगह नहीं थी। इसी बुनियाद पर लोकतंत्र की संस्थाओं-- विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका का निर्माण किया गया। इसमें से जनता केवल विधायिका को चुन सकती है। लोकतंत्र के शेष दोनों स्तम्भों-- कार्यपालिका और न्यायपालिका को जनता नहीं चुनती। उन्हें ऊपर से थोप दिया जाता है। इन संस्थाओं में जिन लाट साहबों को नियुक्त किया जाता है उनमें शायद ही कोई जनता का हमदर्द हो। यदि कोई हो भी तो उसके हाथ कानून से बँधे होते हैं। भारतीय दण्ड संहिता, भारतीय अपराध कानून, भारतीय पुलिस कानून और ऐसे ही तमाम कानून, जो अंग्रेजों ने गुलाम भारत में शासन चलाने के लिए बनाये थे वे आज भी जारी हैं। इनमें यदि कोई संशोधन हुआ भी है तो उसका स्वरूप पहले से ज्यादा जनविरोधी है। जनता को रोज-रोज इन्हीं काले कानूनों के साये में जीना होता है, जबकि समाज का ऊपरी तबका पैसे के दम पर इन कानूनों की

रोज ही धज्जियाँ उड़ाता है।

आज संसदीय पार्टियों और उनके बड़े नेताओं से लेकर छुटभैया नेता तक जनता से कोई सरोकार न रखने वाले इसी संविधान, कानून व्यवस्था और संस्थाओं की दुहाई देते हैं और उनका गुणगान करते हैं।

## ईस्ट इण्डिया कम्पनी के पहले का भारत

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के आने से पहले भारत में एक भरा-पूरा आत्मनिर्भर समाज मौजूद था। ढाका, मुर्शीदाबाद और सूरत में उस समय के विकसित उद्योग मौजूद थे, दस्तकारी अपने सर्वोत्तम रूप में मौजूद थी, लहलहाती फसलों वाले खेत मौजूद थे। संक्षेप में कहा जाये तो भारत में एक विकसित सामन्ती समाज और उत्पादन प्रणाली मौजूद थी, हालाँकि अलग-अलग क्षेत्रों में विकास के स्तर में भिन्नताएँ भी थीं। भारत की विशाल भूमि में विभिन्न प्रकार की जातियाँ, धर्मावलम्बी और राष्ट्रीयताएँ मौजूद थीं और ऐसे आदिवासी समुदाय भी मौजूद थे जो शिकार और वनसम्पदा पर तथा थोड़ी-बहुत खेती-बाड़ी पर गुजारा करते थे।

एक ओर पितृसत्तात्मक समाज फल-फूल रहा था, तो दूसरी ओर मातृप्रधान समाज के मजबूत अवशेष भी मौजूद थे। संक्षेप में कहा जाय तो आर्थिक-सामाजिक जीवन में प्राचीन युग से लेकर मध्ययुग तक के तत्व एक साथ मौजूद थे, हालाँकि उत्पादन प्रणाली मूलतः सामन्ती थी।

इस भारतीय समाज के आगे विकास करने की पूर्वशर्त थी की पुरानी आर्थिक-सामाजिक संरचना और जीवनमूल्यों में आमूल परिवर्तन हो। इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति इस काम को तेज गति से अंजाम दे रही थी। पूरी सम्भावना थी कि भारत का समाज भी देर-सवेर अपनी आन्तरिक गति से आगे बढ़ता और सारे पुराने बन्धनों को तोड़ देता।

लेकिन इसी बीच भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का आगमन हुआ। समय के साथ उसने धीरे-धीरे यहाँ पर अपना राज कायम कर लिया। उसने भारतीय समाज की आन्तरिक गति को न सिर्फ बाधित कर दिया, बल्कि उसे क्षत-विक्षत कर अपने हितों के अनुरूप ढाल दिया। उसने भारतीय समाज में इंग्लैण्ड की तर्ज पर कोई आमूल परिवर्तन नहीं किये, बल्कि प्राचीन और मध्ययुगीन परम्पराओं, कुरीतियों, मूल्यों, मान्यताओं और क्रूरताओं को मूलतः ज्यों-का-त्यों बनाये रखा और जानबूझ कर भारतीय समाज पर एक ऐसी औपनिवेशिक आर्थिक-राजनीतिक-सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था प्रत्यारोपित की जिससे ब्रिटेन की तत्कालीन वाणिज्यिक जरूरतें बखूबी पूरी होती थी। आधुनिक भारतविद्या के जनक सर विलियम जॉन्स ने 1794 में मनुस्मृति का अनुवाद किया था। उसकी भूमिका में श्रीमान जॉन्स ने लिखा था कि यदि वर्णाश्रम नीति का अनुसरण किया जाय तो “करोड़ों

हिन्दू प्रजा” का “सुनिर्दिष्ट श्रम” ब्रिटेन की श्रीवृद्धि में सहायक होगा।

अंग्रेजों की नीतियों की गौण उपज के रूप में भारतीय समाज में जो कुछ परिवर्तन हुए वे ऐसे नहीं थे कि उसे उन्नत सामन्ती समाज से आधुनिक पूँजीवादी समाज में बदल दें और सारी पुरानी मूल्य-मान्यताओं, कुरीतियों, क्रूरताओं को तहस-नहस करके नया समाज स्थापित कर दें। अंग्रेजों द्वारा थोपी गयी नीतियों से यह सम्भव ही नहीं था। यह तो भारतीय समाज की आन्तरिक गति से होने वाले निरन्तर विकास से ही सम्भव था।

ब्रिटिश उपनिवेशवादियों ने अपने औपनिवेशिक हितों की पूर्ति के लिए लोकतांत्रिक प्रणाली को औपनिवेशिक स्वरूप देकर एक सीमित लोकतांत्रिक ढाँचा और लोकतांत्रिक संस्थाओं का निर्माण किया। यह ढाँचा और संस्थाएँ भारत में अंग्रेजों के सामाजिक आधारों और उनके हिमायतियों के हितों का एक हद तक पक्ष-पोषण करती थीं। लेकिन वे मूलतः ब्रिटिश हितों को ही पूरा करने का साधन थीं। आजादी के बाद 26 जनवरी 1950 को जो संविधान लागू किया गया और जो संस्थाएँ बनायी गयीं वे उन्हीं उपनिवेशवादी नीतियों और संस्थाओं का संशोधित, सम्पादित और परिमार्जित संस्करण था।

उधर ब्रिटेन में लोकतंत्र और उसकी संस्थाओं की प्रासांगिकता समाप्त हो चुकी थी। वहाँ का लोकतंत्र उपहास का पात्र बन चुका था, जिसके चित्रण से तत्कालीन अंग्रेजी साहित्य अँटा पड़ा है। जॉर्ज बर्नार्ड शा के नाटकों में तो बर्तानी लोकतंत्र और संसद की करतूतों का इतना विस्तृत चित्रण मिलता है और उनका इतना माखौल उड़ाया गया है कि देखते ही बनता है।

भारत के गणतंत्र-दिवस पर इसी उपहास योग्य लोकतंत्र के भारतीय संस्करण की प्राण-प्रतिष्ठा की गयी। यह लोकतंत्र भारतीय जनमानस की उपज नहीं था। यह लोकतंत्र और इसकी पतनशील संस्थाएँ भारतीय जनगण, उसकी मनीषा और प्रतिभा की देन नहीं थे। यह भारत की उर्वर भूमि से खुराक लेकर फूटे हुए अंकुर और उनसे विकसित वृक्ष नहीं थे। ये तो हवा में लटकी हुई विष-बेलें थीं जिनमें विष ही विष था। ये समाज के लिए जीवनदायिनी नहीं बल्कि उसे मूर्च्छित करने वाली और उसकी प्राणवायु हर लेने वाली थीं। इन विष-बेलों का जनक और पोषक था-- जरायु, जर्जर ब्रिटिश लोकतंत्र।

## लोकतंत्र क्या है?

लोकतंत्र इतिहास के एक निश्चित कालखण्ड में पैदा हुआ था। यह 1776 की अमरीकी क्रान्ति की ऊष्मा से पैदा हुआ था। यह 1789 की फ्रांसीसी क्रान्ति के झंझावात में पैदा हुआ था। यह चार्टिस्ट आन्दोलन, ब्रिटिश क्रान्ति और मैग्नाकार्टा की आँधियों में जन्मा था। यह यूरोप की जन-क्रान्तियों के सैलाबों पर सवार होकर अवतरित हुआ था। इन क्रान्तियों और आन्दोलनों में लोकतंत्र हाथ में हँसिया लिए किसानों की भागीदारी से



उपजा था। यह निहाई पर मजदूरों के हथौड़ों की चोट की चिंगारी से पैदा हुआ था। यह आम जनता के कुल्हाड़ों-बल्लमों की नुकीली धारों से पैदा हुआ था। मेहनतकश जनता के क्षोभ, जुगुप्सा, घृणा और क्रोध ने अपने धारदार औजारों से पतनशील जड़ सामन्तवाद की गरदन काट डाली थी और मजदूरों के हथौड़ों ने उसके सिर को कुचल डाला था।

पूँजीपतियों के नेतृत्व में सम्पन्न उन क्रान्तियों की मूल अन्तर्वस्तु थी सामन्तशाही का सम्पूर्ण खात्मा— आर्थिक, राजनीतिक, सामरिक, वैचारिक, सामाजिक और सांस्कृतिक। यह पैबन्दसाजी से सम्भव नहीं था। यह सामन्तों की जमीन छीनकर उसे मेहनतकश किसानों में बाँटकर और मजदूरों को आजाद करके ही सम्भव था। यानी यह जनवादी क्रान्ति से ही सम्भव था, जो समाज के सभी पुराने सम्बन्धों को उलट-पलट देती है, जमीन के सम्बन्धों में ऊपर से नीचे तक परिवर्तन कर देती है, जो मानवी सम्बन्धों को बदल डालती है, जो मन-विचार, शब्द-शब्दकोष में बदलाव ला देती है, जो जीवन के सारे आयामों में आमूल परिवर्तन कर डालती है। यूरोप और अमरीका की जनता और उसकी प्रतिभाओं ने इसी जमीन पर खड़े होकर अपने-अपने देशों में लोकतंत्र का निर्माण किया था। अमरीका, ब्रिटेन, फ्रांस इत्यादि उन्नत पूँजीवादी देशों के वैभव और सम्पन्नता के पीछे यही मूल कारण रहा है।

## भारतीय लोकतंत्र की स्थिति

वास्तव में राष्ट्र का अर्थ है नागरिक चेतना से सम्पन्न, अपने राष्ट्रीय हितों के प्रति सचेत लोगों का समुदाय, जो सच्चे जनवादी और लोकतांत्रिक आधारों के बिना टिका नहीं रह सकता। लेकिन इसके विपरीत, आज कुछ लोगों के बीच धन का संकेद्रण ही उनके जनवादी अधिकारों का आधार बन गया है।

हमारे देश में, जहाँ लोकतंत्र की कतरन पर पूरी व्यवस्था टिकी हुई है, दफ्तर का सामान्य चपरासी और पुलिस का सामान्य सिपाही भी जनता पर रुआब झाड़ता है और एंठ दिखाता है। हमारे देश में 90 प्रतिशत लोग यह नहीं जानते कि नागरिकता क्या होती है और उनके नागरिक अधिकार क्या हैं? देश की अधिकांश जनता का चिन्तन केवल क्षेत्र, सम्प्रदाय, जाति, वंश और कुनबा तक ही सीमित है। वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था जनता को आपस में बाँटने, लड़ाने और उसमें वैमनस्य फैलाने के लिए इन प्रतिगामी विचारों को बढ़ावा देती है और इनका भरपूर इस्तेमाल करती है। पत्र-पत्रिकाएँ, टी.वी.-रेडियो, यानी पूरा मीडिया इन प्रतिगामी विचारों को मजबूत बनाने में लगा रहता है। परिणाम यह हुआ है कि जो कुरीतियाँ और प्रतिगामी विचार 1950-60 के दशक में मरते हुए प्रतीत हो रहे थे, वे आज फिर फलने-फूलने लगे हैं।

भारत की 80 करोड़ आबादी प्रतिदिन 20 रुपये रोज पर गुजारा करती है। इसमें

भी 12 करोड़ लोग केवल 12 रुपये पर गुजारा करते हैं। ऐसे विपन्न और अभावग्रस्त आबादी के नागरिकता-बोध और राष्ट्रीय चेतना के बारे में सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। क्या इस देश की राजनीति में, इसकी योजनाओं में हाशिये पर फेंक दी गयी इतनी बड़ी आबादी की कोई दिलचस्पी और भागीदारी हो सकती है?

साम्प्रदायिक पार्टियाँ और उनके नेता यह दुष्प्रचार करते हैं कि भारत के मुसलमान इस को अपना देश नहीं मानते। लेकिन क्या झारखण्ड के आदिवासी इसे अपना देश समझते हैं? क्या नागा-मिजो इसे अपना देश समझते हैं? क्या प्रतिदिन 20 रुपये पर गुजारा करने वाले 80 करोड़ लोग इसे अपना देश समझते हैं? क्या हाशिये पर फेंक दी गयी आबादी का कोई राष्ट्र हो सकता है? क्या इस पाशविक शोषण और उत्पीड़न के जुए के नीचे पिस रही आबादी का कोई राष्ट्र हो सकता है? इतनी बड़ी आबादी को एक सूत्र में पिरोने के लिए और राष्ट्रनिर्माण के लिए खुदगर्ज, संकीर्णमना और फूटपरस्त नेताओं ने आजादी के 62 वर्षों में क्या किया है?

राष्ट्र-देश-लोकतंत्र तो इस देश के मुट्ठीभर पूँजीपतियों का है, बड़े भूस्वामियों का है, बड़े व्यापारियों, सट्टेबाजों, दौलतमन्दों और उनकी सेवा में लगे समाज के ऊपरी वर्गों का है जिनकी आबादी बमुश्किल 10 से 15 करोड़ है। शेष एक अरब से भी अधिक जनता इस 'लोकतंत्र' के स्वर्गलोक से बहिष्कृत है।

पाँच सालों में एक बार मतपत्रों पर ठप्पा लगा देना ही लोकतंत्र नहीं होता है। यह तो आम जनता के साथ, मेहनत की रोटी खाने वाले दबे-कुचले लोगों के साथ किया गया एक भद्दा मजाक है। भारत में सही लोकतंत्र की स्थापना तभी हो सकती है जब उसकी बुनियादी शर्तें पूरी हों। और ये शर्तें तभी पूरी हो सकती हैं जब आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, वैचारिक, मनोवैज्ञानिक— हर क्षेत्र में आमूल बदलाव किया जाये। यह काम एक सम्पूर्ण, सर्वग्राही क्रान्ति द्वारा ही सम्भव है, उससे कम में नहीं। तभी और केवल तभी भारत एक नये युग में प्रवेश करेगा। विपन्न, अभावग्रस्त और गरीब भारत एक सम्पन्न, स्वावलम्बी और महान भारत बनेगा।

जब तक इस देश की जनता इस ऐतिहासिक दायित्व को पूरा नहीं करेगी, तब तक लोकतंत्र का प्रहसन चलता रहेगा।

# भूमिसुधार, आरक्षण और सार्विक मताधिकार

## -संजय

सन् 1947 में जब देश आजाद हुआ तो यह एक अत्यन्त पिछड़ा देश था। खेती सामन्ती तरीके से होती थी और प्रकृति पर निर्भर थी। अर्थव्यवस्था को अंग्रेजों की लूट ने पूरी तरह तबाह कर दिया था। अधिकांश जनता भुखमरी का शिकार थी, जबकि कच्चे माल का विपुल भण्डार और खेती योग्य बेहिसाब जमीन बेकार पड़ी थी। देश की अधिकांश जमीन जमींदारों के कब्जे में थी। सत्ता जिन उभरते हुए पूँजीपतियों और हासमान भूस्वामियों के हाथ में आयी, उनके सामने देश के विकास की कठिन चुनौती थी। कांग्रेस पार्टी क्रान्ति के जरिये नहीं, बल्कि सत्ता-हस्तांतरण के द्वारा सत्ता में आयी थी। अपने निहित स्वार्थों के कारण उसे जनता की बढ़ती चेतना और साम्राज्यवादी देशों की ललचाई नजरें— दोनों से खतरा था।

ऐसे में पूँजीपतियों-भूस्वामियों और उनकी पार्टी कांग्रेस ने आजादी के बाद जो रास्ता अपनाया, आज की राजनीति और आर्थिक व्यवस्था उसी का आवश्यक परिणाम है। उसकी नीतियों में तीन सुधारवादी कार्यक्रम— भूमिसुधार, आरक्षण और सार्विक मताधिकार, ऐसे कारक थे जिनके कारण भारतीय समाज में महत्वपूर्ण बदलाव आये। आज के राजनीतिक परिदृश्य को समझने के लिए हम इन्हीं तीन कारकों पर विचार करेंगे।

आजादी के पहले देश के अलग-अलग इलाकों में जमीनों का मुख्यतः तीन तरह का बंदोबस्त होता था— जमींदारी, महालवाड़ी और रैयतवाड़ी। इन तीन इलाकों की अपनी-अपनी विशेषताएँ थीं, लेकिन जमीन उन जमींदारों, राजे-रजवाड़ों और नवाबों के हाथों में केन्द्रित थी जो किसानों से लगान वसूल कर मौज उड़ाते थे। निम्न और पिछड़ी जातियों के लोग इन्हीं की जमीन पर मेहनत-मजदूरी करके अपना पेट पालते थे। अत्याचार और शोषण के कारण इन दबे-कुचले लोगों की क्रयशक्ति बहुत ही कम थी जिसके कारण देश में लगने वाले कल-कारखानों के सामान की खपत बहुत कम हो पाती थी। दूसरी ओर, जमींदारी और बटाईदारी की प्रथा के कारण खेती का उत्पादन भी बहुत कम था, क्योंकि जमीन का मालिकाना न होने के कारण किसानों के लिए आधुनिक ढंग से खेती कर पाना सम्भव नहीं था। इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए यहाँ के शासक वर्गों ने भूमिसुधार लागू करने का निर्णय लिया। साथ ही जमीन के लिए देश के विभिन्न हिस्सों में चल रहे किसान संघर्षों के दबाव के चलते और उसकी लपट को ठण्डा करने के लिए भी उन्होंने एक हद

तक भूमिसुधार करना जरूरी समझा।

भूमिसुधार के पहले कदम के रूप में पूरे देश में लगानभोगी बिचौलियों का खात्मा कर दिया गया और जमींदारों से लगान पर जमीन लेकर जोतने वाले असामी किसानों को जमीन का मालिक बना दिया गया। हालाँकि कई इलाकों में जमींदारों ने कानूनी छल-छिद्र का इस्तेमाल करके जमीन अपने पास बनाये रखी। जमीन का मालिकाना मिलने के बाद किसानों ने खेती में सुधार किया, बंजर और परती जमीनों को वैज्ञानिक विधि से कृषि योग्य बनाया और नयी तकनीकों— कृषि यंत्र, खाद, कीटनाशक, संकर बीज, ट्यूबवेल इत्यादि का प्रयोग शुरू किया। परिणामस्वरूप खेती में उत्पादन बढ़ा जिससे कुछ लोगों की आमदनी और क्रयशक्ति में वृद्धि हुई। इसी का नतीजा था कि देश के कई इलाकों में कुछ मध्यम जातियाँ आर्थिक खुशहाली और सामर्थ्य हासिल करके राजनीतिक पटल पर उभरीं। हालाँकि पूरे देश में एक समान भूमिसुधार लागू करवाने के साहस का पूँजीपति वर्ग की पार्टी कांग्रेस में अभाव था, चाहे इसके पीछे के कारण जमींदारों का कांग्रेस पार्टी पर प्रभाव रहा हो या मजदूर-किसान जनता के उठ खड़ा होने का डर।

अलग-अलग इलाकों की विशिष्टाओं, सामाजिक संरचनाओं और वर्ग संघर्ष ने भूमिसुधार को लागू करवाने में योगदान दिया तथा जहाँ जिस हद तक भूमिसुधार लागू हुआ, उसी हिसाब से वहाँ सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन भी फलीभूत हुआ। उदाहरण के लिए, चौधरी चरण सिंह की वजह से उत्तर प्रदेश में बिहार या पंजाब की तुलना में बेहतर ढंग से जमींदारी उन्मूलन और भूमिसुधार हुआ। मध्यम जातियों के लगभग 2 करोड़ लोग कमोबेश जमीन के मालिक बने। इन्हीं मध्यम जातियों के लोगों के ऊपर उठने और उनके जनाधार के बल पर सोशलिस्ट पार्टी (प्रजा सोशलिस्ट पार्टी जो बाद में जनता पार्टी के घटकों में बदल गयी), लोकदल और सपा जैसी पार्टियों ने ऊपर प्रदेश की राजनीति में अपना महत्वपूर्ण मुकाम हासिल किया इस तरह सीमित भूमिसुधारों के चलते पिछड़े वर्ग के एक हिस्से को शासक पूँजीपति वर्ग ने आत्मसात कर लिया।

भारतीय संविधान का उल्लेख करते हुए अम्बेडकर ने एक बार कहा था कि आर्थिक-सामाजिक बराबरी के अभाव में कानून द्वारा प्रदत्त राजनीतिक समानता को बरकरार नहीं रखा जा सकता। अगर दलित-शोषित जनता उठ खड़ी होती और अपने पक्ष में व्यवस्था परिवर्तन कर पाती तो आर्थिक समृद्धि के साथ-साथ राजनीतिक-सामाजिक समानता और आत्मस्वाभिमान भी हासिल होता। लेकिन उन्हें बुनियादी संघर्षों से विमुख करने और उनके एक हिस्से को अपनी व्यवस्था में शामिल करके बहुसंख्य दलित आबादी के बीच अपनी स्वीकार्यता सुनिश्चित करने के लिए शासक वर्गों ने सुधारवादी रास्ता अपनाया। इसके तहत दलितों के लिए शिक्षा और नौकरियों में आरक्षण और अन्य सुविधाएँ प्रदान की गयीं। हालाँकि आरक्षण का यह अधिकार कभी भी पूरी तरह लागू नहीं हुआ, लेकिन जितना भी लागू हुआ, उतने से ही दलित समुदाय को जो राहत मिली, उसे

नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता। गरीबों को नौकरी मिलने से जहाँ उनके परिवारों में आर्थिक खुशहाली आयी, वहीं ऐसे उदाहरणों को देख कर दबे-कुचले लोगों को आगे बढ़ने की उम्मीद और प्रेरणा मिली।

आरक्षण के कारण ही दलित गरीब तबके के कुछ लोग अफसर, कर्मचारी, डॉक्टर, इंजीनियर और विभिन्न पार्टियों के नेता बने और उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार आया।

किसी भी तबके के संगठित होने और अपनी पहचान की लड़ाई लड़ने के लिए उसमें एक हद तक आर्थिक खुशहाली होना जरूरी है। आरक्षण के चलते दलित-शोषित समुदाय के बीच से कुछ लोगों की आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ। इसके बाद ही वे अपने स्वाभिमान की लड़ाई लड़ सकने में समर्थ हुए। चुनाव में आरक्षण होने के कारण तथा उनके बीच से आये नेताओं द्वारा दलितों के बीच राजनीतिक चेतना जागृत कर उनके वोटों का धुवीकरण किया गया। इसके चलते दलित नेता केन्द्र और राज्य सरकारों में शामिल हुए तथा उत्तर प्रदेश में बसपा की सरकार बनी। जो वर्ग वंचित होता है उसके जिन्दा रहने के लिए ख्वाब भी सहारा होता है। कुछ दलितों का शासक वर्ग में शामिल होना तो ख्वाब से थोड़ा ज्यादा ही है। वे जब देखते हैं कि हमारी जाति का आदमी लोगों पर शासन कर रहा है तो निश्चय ही उन्हें गर्व की अनुभूति होती है। यह बात और है कि आज के दौर में दलितों के अपने नेता खुदगर्ज के कारण पूँजीपतियों और शासक वर्गों के दूसरे हिस्सों से हाथ मिलाकर दिन-रात लोगों को बेचकूफ बनाते हैं, उन्हें लूटते और ठगते हैं। गरीब-दलित लोगों के वोट से ऊपर उठे उन्हीं के बीच के कुछ लोग मौज-मस्ती कर रहे हैं जबकि भारी संख्या में दलित समुदाय गरीबी की चक्की में पिसकर त्राहि-त्राहि कर रहा है। सुधारों के माध्यम से शासक वर्ग यही करना चाहता था— दलितों के बीच से कुछ लोगों को अपनी जमात में शामिल करके अपनी व्यवस्था को मजबूत बनाना, जिसमें उसे कामयाबी भी मिली।

अब भारतीय समाज पर सार्विक मताधिकार के प्रभावों को समझने का प्रयास करते हैं। सार्विक मताधिकार का अर्थ है कि हर व्यक्ति को, चाहे वह किसी भी जाति, वर्ण, धर्म, भाषा, नस्ल या रंग-रूप का हो, मतदान करने और अपनी मनचाही सरकार चुनने का अधिकार है।

1952 के चुनाव में स्थानीय दबंग भूस्वामी वर्ग ने दलित-पिछड़ी जातियों के गरीबों को वोट डालने ही नहीं दिया था। बाद के चुनाव में भी स्थिति यही थी कि ज्यादातर गरीबों को भेड़-बकरियों की तरह हाँक कर अपनी तरफ वोट डलवा लिया जाता था। लेकिन जब भूमिसुधार के चलते पिछड़ी जातियों और आरक्षण के चलते दलित समुदाय के कुछ लोगों की आर्थिक खुशहाली बढ़ी तो स्थिति बदलने लगी। दलितों के बीच से पढ़े-लिखे और नौकरीपेशा लोगों को देश-दुनिया की जानकारी हुई तथ्य अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता आयी, तो उन्होंने लोगों के बीच जाकर उनमें जनतांत्रिक अधिकारों के प्रति

जागरूकता पैदा की। साथ ही स्थानीय स्तर पर उन्हें विरोध और टकराव का भी सामना करना पड़ा। पिछड़े और दलित लोगों में अपने स्वाभिमान और मताधिकार के प्रति चेतना बढ़ती गयी और वे अपने बीच के तयों के बीच से धनी किसानों, कुलकों और फार्मरों के उद्भव का ही नतीजा था कि 1967 में पहली बार कांग्रेस को चुनौती देते हुए कई राज्यों में विरोधी पार्टियों की संयुक्त विधायक दल (संविद) की सरकारें बनीं और पहली बार इन राज्यों में उच्च जातियों के मुख्यमंत्री की जगह मध्यम जातियों के मुख्यमंत्री चुने गये। आगे चलकर उन्होंने आरक्षण को और भी ज्यादा जोर देकर लागू करवाया। इससे दलितों शोषितों की जिन्दगी में थोड़ी और बेहतरी आयी।

भूमिसुधार, आरक्षण, सार्विक मताधिकार ने जहाँ सदियों से वंचित लोगों को एक हद तक उठने का मौका दिया, वहीं इन तीनों कारकों ने एक-दूसरे को प्रभावित भी किया। यदि भूमिसुधार आधा-अधूरा न होकर पूरी तरह लागू होता, खेती में लगे सभी भूमिहीन दलितों और पिछड़ों को जमीन का मालिकाना हक मिलता, तो उनकी आर्थिक स्थिति में और भी सुधार होता। तब यदि आरक्षण नहीं भी मिलता तो लोग अपने मताधिकार का ज्यादा सही उपयोग करते और उनमें अधिक जागरूकता बढ़ी होती। लेकिन जैसा भी हुआ, इन तीनों कारणों ने साथ-साथ मिलकर फिलहाल समाज को एक ऐसी दिशा में पहुँचा दिया, जहाँ इन वर्गों का प्रतिनिधित्व भी विधानसभाओं और संसद में होने लगा और समाज-विकास पर इसका कुछ सकारात्मक असर भी पड़ा।

ऊपर जिन तीन तरह के सुधारों की चर्चा की गयी है उनका मकसद पिछड़ी जातियों और दलितों के बीच से कुछ लोगों को ऊपर उठाकर उन्हें व्यवस्था में आत्मसात करना, व्यवस्था के जनाधार को विस्तृत करना और उसे मजबूत बनाना था। यह प्रक्रिया अब पूरी हो चुकी है।

आजादी के 60 वर्षों में पूँजीपति वर्ग द्वारा बनायी गयी सुधारवादी नीतियों और पूँजीवादी विकास ने भारतीय समाज की वर्गीय संरचना को काफी हद तक बदल दिया है। पुराने जमाने के जमींदार आज लगान वसूलने वाले वर्ग न रहकर भूस्वामी में बदल गये हैं जो अपने बड़े फार्मों पर खेती करवाकर खूब दौलत बटोर रहे हैं। इस तरह पूँजीपति, भूस्वामी, अफसर, राजनेता, ठेकेदार, ट्रेड-यूनियन के नेता, मीडियाकर्मी, माफिया, बिल्डर और अन्य नवधनाढ्य लोगों का जो नया वर्ग आजादी के बाद पैदा हुआ है, इसने देश की अधिकांश सम्पत्ति को अपने हाथों में केन्द्रित कर लिया है। इनमें सभी जातियों के लोग-पिछड़े और दलितों के बीच से उभरे नवधनाढ्य भी शामिल हैं। लेकिन अभी भी इनमें सवर्ण जातियों की संख्या अधिक है। 1990 के बाद हुए वैश्वीकरण ने इन मुट्ठीभर लोगों की सम्पत्ति को बेतहाशा बढ़ाया है। ये जिस जाति या सम्प्रदाय के हों, चाहे जिस पार्टी के समर्थक हों, इनका स्वार्थ एक-दूसरे से गुथा हुआ है। ये सभी मिलकर गरीब जनता का शोषण-उत्पीड़न करते हैं। इन लोगों ने मिलकर आपस में एक ऐसी जकड़बंदी बना रखी



है जिसे समझना और तोड़ पाना काफी कठिन है। भारतीय लोकतंत्र की बागडोर ऐसे ही लोगों के हाथों में है। ये मुट्ठीभर लोग आज जनता के हित में किसी भी सुधार के विरोधी हैं, हालाँकि सुधारवादी नीतियाँ व्यवस्था को टिकाऊ बनाने और जनाक्रोश को ठण्डा करने का ही काम करती हैं। आजादी के तत्काल बाद अगर भूमिसुधार इतना भी न हुआ होता, तो शासक वर्गों के लिए इस व्यवस्था को बनाये रखना मुश्किल होता। तब जनसंघर्षों के प्रबल आवेग को वे रोक ही नहीं सकते थे। लेकिन भूमिसुधार ने इसे मद्धिम कर दिया। यही काम आरक्षण ने भी किया है।

आज संघर्ष के आयाम बदल चुके हैं। आज संघर्ष बिल्कुल नये तरीके से ही सम्भव है, पुराने तरीके से नहीं। अपनी जातियों, धर्मों और क्षेत्रों का सच्चा प्रतिनिधि होने का दावा करने वाली सभी पार्टियों की मूलभूत नीतियों पर एकता है। आर्थिक, घरेलू और विदेश नीति के मामलों पर इनमें कोई खास मतभेद नहीं है। यहाँ तक कि स्थानीय और जातिगत मुद्दों पर चुनाव लड़ने वाली पार्टियाँ भी जीतने के बाद उन मुद्दों को त्याग देती हैं। अपने निजी स्वार्थ के लिए राजनीतिक जोड़-तोड़ और दल-बदल इनका आम चरित्र है। धन और सत्ता देखते ही ये बिना पेंदी के लोटे की तरह उस ओर लुढ़कने लगते हैं। तब इन्हें जाति या धर्म के नाम पर वोट देने वाले अपने समर्थकों की याद नहीं आती।

कहा जाता है कि अत्यधिक धन का संकेन्द्रण लोकतंत्र के लिए खतरा है, लेकिन आज शासक वर्ग इसे पूरी तरह से काबू में रखकर लोगों को गुमराह करने में सफल है। आज लोकतंत्र का एक ही मतलब है— जनता, जिसकी छाती पर ये सवार हैं और जिसका शोषण-उत्पीड़न करते हैं, पाँच साल में एक बार किसी पार्टी के चुनाव चिह्न पर ठप्पा लगा दे। भारतीय लोकतंत्र में जनता की कोई भागीदारी नहीं, वह केवल मूकदर्शक है। नयी-नयी जनविरोधी नीतियाँ पारित हो जाती हैं और लोगों को इसकी खबर तक नहीं होती। क्या यही लोकतंत्र है?

यह चुनवी लोकतंत्र जनता के ऊपर थोपी गयी तानाशाही के अलावा और कुछ भी नहीं है। इसे 5-5 साल पर अलग-अलग पार्टियाँ बारी-बारी से लागू करती हैं। आज अगर कोई सच्चा लोकतंत्र हो सकता है। तो वह 80-90 करोड़ शोषित-उत्पीड़ित जनता द्वारा आपसी एकता की मजबूत ताकत से इन जनविरोधी वर्गों के शोषकों के शासन का अन्त करके ही सम्भव है। ऐसी बहुसंख्यक जनता जब अपनी सक्रिय राजनीतिक कार्यवाहियों से सबको शिक्षा, सबको रोजगार और सबको इलाज का सपना पूरा करेगी, जब इस देश में कोई भी भूखे पेट नहीं सोयेगा, ठण्ड में बिना कपड़े पहने ठिठुर कर नहीं मरेगा और बरसात में कच्चे घर ढहने से नहीं मरेगा। जब हर नागरिक के लिए एक सम्मान भरी जिन्दगी जी सकेगा, तभी जाकर हर नागरिक एक सच्चे लोकतंत्र के निर्माण का सपना साकार होगा। इसके लिए जरूरी है कि जाति-धर्म-क्षेत्र के बटवारों से ऊपर उठकर आपस में मजबूत एकता कायम की जाय और इस पतित लोकतंत्र के विकल्प की तलाश की जाय।

## राजनीतिक पार्टियाँ और वर्तमान चुनाव

—बुद्धेश

16वीं लोकसभा का चुनाव होने जा रहा है। सभी राजनीतिक पार्टियों के भीतर विकट मारामारी मची हुई है। मामला टिकट का है जिसे पाने के लिए नेता एक पार्टी छोड़कर दूसरी-तीसरी पार्टी में आ-जा रहे हैं। जिस पार्टी और नेता को कल तक वे पानी पी-पी कर कोसते थे अब उसी के गुणगान में लग गये हैं। सभी पार्टियाँ अपनी विरोधी पार्टी के टिकट से वंचित नेताओं को रिझाने में लगी हुई हैं। इसके लिए वे छल-प्रपंच और तीन-तिकड़म का सहारा ले रहीं हैं। क्षण-प्रतिक्षण सिद्धान्त, आदर्श और आस्थाएँ बदल रही हैं और बन-बिगड़ रही हैं। बरसों से 'समाजवादी' रहे नेता अचानक 'जातिवादी' और 'पूँजीवादी' पार्टी का पल्लू धाम रहे हैं। धर्मनिरपेक्ष पार्टी के नेता बड़ी आसानी से साम्प्रदायिक पार्टी में शामिल हो रहे हैं। आज पार्टियों और नेताओं के महलों में धिनौने अवसरवाद की हलचल और कोलाहल देखने-सुनने को मिल रही है।

कुर्सी दौड़ में शामिल छोटी-बड़ी सभी राजनीतिक पार्टियों की इस भीड़-भाड़ में जनता के सुख-दुख से सरोकार रखने वाले असली नेताओं का अभाव है। इन पार्टियों के नेता अपने कारनामों के लिए इतना कुख्यात और बेपर्दा हो गये हैं कि न तो इनको अपने-आप पर भरोसा है और न जनता को ही इन पर भरोसा है। इसकी भरपाई के लिए ये सभी पार्टियाँ पतित पूँजीवादी संस्कृति के वाहक, खुदगर्ज और कैरियरवादी फिल्मी अभिनेताओं और क्रिकेट के खिलाड़ियों को अपनी पार्टी में शामिल करना चाहती हैं।

राजनीतिक-सांस्कृतिक सड़न के इस दौर में मीडिया ने काफी सोच-समझकर और लगातार प्रयास करके क्रिकेटर्स और सिनेजगत के अभिनेताओं की छवि जनता के नायक के रूप में गढ़ी है ताकि जनता को उसके असली नायकों से वंचित कर दिया जाये। जिस तरह दक्षिणी अमरीका में फुटबाल खिलाड़ियों को मीडिया ने जनता के नायक की तरह गढ़ा है उसी तरह भारतीय मीडिया भी प्रयासरत रही है। दरअसल किसी भी देश-समाज की संकटग्रस्त व्यवस्था में जनान्दोलनों को दबाने, उसे भ्रष्ट करने और जनता की एकता और आत्मबल को तोड़ने का काम व्यवस्था अक्सर ही करती है। सही नेतृत्व के बगैर व्यवस्था-विरोधी जनान्दोलनों को खड़ा करना सम्भव नहीं होता, इसलिए व्यवस्था की साजिश होती है कि 'नकली नायक', 'पर्दे के नायक' और 'खेल के मैदानों के नायक' को जनता के नायक के रूप में प्रस्तुत किया जाय।

आज की राजनीति में सिद्धान्तहीनता और घृणित अवसरवाद का बोलबाला है। सभी

पार्टियों के नेताओं में पूँजीवादी विचारधारा और सामन्ती जीवनमूल्यों की प्रधानता है। एक अजीब सी विद्रूपता और जुगुप्सा का माहौल सामने है। नेता और पार्टियाँ आपस में ऐसे लड़ रहे हैं जैसे साँढ़, मुर्ग या कुत्ते आपस में लड़ते हैं। अधिकांश नेता अपने व्यवहार में वंशवाद जैसे सामन्ती मूल्यों से ग्रसित हैं। वे अपने बेटे-बेटियों, बहुओं-पत्नियों को चुनाव का टिकट दिलाने और लाभ के पद पर बैठाने के लिए किसी भी हद तक जाने को तैयार हैं।

पार्टियों के अधिकांश नेता आकण्ठ भ्रष्टाचार में डूबे हुए हैं जिनमें से ढेर सारे लोगों के ऊपर भ्रष्टाचार, आय से अधिक सम्पत्ति रखने, करोड़ों-अरबों रुपयों के घोटाले, कर्मचारियों-पुलिस आदि की भर्ती में घोटाले, काले धन को सफेद करने आदि के मुकदमों दायर होते रहे हैं। इन पार्टियों के कई नामधारी नेता ज्ञात स्रोत से अधिक सम्पत्ति इकट्ठा करने के मामले में प्रथम दृष्टया दोषी पाये जा चुके हैं, उन पर जाँच बैठायी जा चुकी है। जो सत्ता में आ जाते हैं, सीबीआई उनके मुकदमे ठण्डे बस्ते में डाल देती है या वापस ले लेती है और वे अपने विरोधी नेताओं के पीछे खोजी कुत्ते लगा देते हैं। इस चुनाव के बाद भी यही होगा। यह आज सभी पार्टियों की साझा राजनीतिक संस्कृति बन चुकी है। इनका एकमात्र उद्देश्य चुनाव जीतकर या जोड़-तोड़ करके कुर्सी पर पहुँचना है। इसके लिए वे जितना भी आगे-पीछे जा सकते हैं, जो कुछ भी कर सकते हैं, उन सबके लिए ये प्रयासरत हैं।

सभी पार्टियाँ किसी न किसी वर्ग के हितों का प्रतिनिधित्व करती हैं। पूँजीवादी सरकारों पूँजीपतियों का प्रबन्धक मण्डल होती हैं। लेकिन 1990 के बाद से सभी पार्टियाँ और समय-समय पर बनने वाली उनकी सरकारों ने भारतीय पूँजीपतियों के चाकर जैसा व्यवहार किया है और विदेशी पूँजी की सेवा के लिए भी वे चौबीसों घण्टे प्रस्तुत रही हैं। इस चुनाव के बाद भी इनके इस चरित्र में बदलाव आने की कोई सम्भावना नहीं है।

सभी पार्टियाँ धर्मनिरपेक्ष होने का ढोंग करती हैं। लेकिन चुनाव जीतने के लिए सम्प्रदायवाद, जातिवाद, इलाकावाद पर अमल करने में पीछे नहीं रहतीं। कोई खुलेआम साम्प्रदायिक राजनीति करता है तो कोई छिपे तौर पर, कोई उसके सामने समर्पण करता है तो कोई मौन रहकर उसे बढ़ावा देता है। कोई हिन्दुओं के वोट के लिए हिन्दू सम्प्रदाय का सहारा लेता है तो कोई मुसलमानों को खुश करके उनका वोट लेने के लिए मुस्लिम सम्प्रदायवाद को हवा देता है। सिख और इसाई समुदाय के साथ भी ऐसा ही किया जाता है। जहाँ जिनकी जितनी आबादी है, वहाँ उनको खुश करने के लिए उतने ही जतन किये जाते हैं। 1984 के दंगों के लिए कुख्यात सज्जन कुमार और जगदीश टाईटलर कांग्रेस के टिकट पर दिल्ली में चुनाव लड़ते हैं। सीबीआई ने आनन-फानन में उन्हें क्लीन चिट दे दी थी। वरुण गाँधी ने पीलीभीत में जो कुछ भी कहा था वह भाजपा और आरएसएस के दिल की बात थी। अदालत ने उन्हें बाइज्जत बरी कर दिया था। तकरीबन सभी पार्टियाँ आज ऐसे ही हथकण्डों के सहारे चुनावी वैतरणी पार करने की जुगत में हैं। लेकिन इन

सबके बावजूद इन पार्टियों के भीतर कुछेक फर्क भी मौजूद हैं। इन पार्टियों का अपना अलग-अलग इतिहास है। भारतीय इतिहास के अलग-अलग दौर में इनका उदय और उत्थान-पतन हुआ। इनकी पूरी स्थिति को जाने बिना समग्रता में चुनावी माहौल को समझा नहीं जा सकता।

राष्ट्रीय स्तर पर तीन मुख्य पार्टियाँ हैं जो इस चुनाव में तीन अलग-अलग गठबन्धनों का नेतृत्व करेंगी। कुछ क्षेत्रीय पार्टियाँ भी इन्हीं में से किसी एक के साथ जुड़ी हैं। हम यहाँ इनके बारे में संक्षेप में अपनी राय रखेंगे।

**कांग्रेस :** बर्तानवी हुकूमत से कुछ रियायत पाने के लिए बनायी गयी कांग्रेस आगे चलकर एक ऐसी पार्टी में बदल गयी जिसमें विभिन्न वर्गों और विचारों वाले लोग शामिल हुए, हालाँकि कांग्रेस का नेतृत्व मुख्य रूप से पूँजीवादी ही रहा। किसी जमाने में उग्र और नरम दोनों किस्म के राष्ट्रवादी इसके भीतर मौजूद थे। गाँधी का नेतृत्व स्थापित होने के बाद से यह बर्तानवी हुकूमत के साथ समझौतावादी नीति अपनाने वाली पार्टी बन गयी जो एक तरफ जनता और उसके गुस्से से डरती थी तो दूसरी तरफ आत्मनिरणय का अधिकार भी चाहती थी। गाँधी के नेतृत्व में आजादी मिलने तक 'समझौता और दबाव' इसकी कार्यनीति बनी रही। 1947 में आजादी मिलने के बाद सत्ता इसके हाथ में आयी। उस समय पार्टी का नेतृत्व पूँजीपतियों और बड़े भूस्वामियों द्वारा नियंत्रित था। कांग्रेस ने नवस्वाधीन देश को उन्हीं के हितों के अनुसार ढालने का काम किया। आजाद भारत के लिए इसने मूलतः पूँजीवादी रास्ता अपनाया। नेहरू के नेतृत्व में इसने तीन बड़े काम किये- आरक्षण, सार्विक मताधिकार और सीमित भूमिसुधार, जिसके परिणामस्वरूप भारतीय समाज में नये-नये वर्गों के चरित्र में भी काफी बदलाव आया। यह कांग्रेस पार्टी की मजबूरी भी थी और 1947 के बाद निर्मित होने वाली व्यवस्था को मजबूत करने के लिए अपरिहार्य भी था। साथ ही यह उस समय चल रहे राष्ट्रीय-अन्तराष्ट्रीय वर्ग संघर्षों का भी परिणाम था।

विदेश नीति के मामले में कांग्रेस पार्टी आजादी के बाद से ही अमरीकी साम्राज्यवाद से दूरी बनाये हुए थी और गुटनिरपेक्ष आन्दोलन में बढ़-चढ़ कर हिस्सेदारी करती थी। हालाँकि सोवियत साम्राज्यवाद की तरफ इसका स्पष्ट झुकाव था।

भारतीय समाज के संकट के साथ ही कांग्रेस पार्टी भी संकटग्रस्त होती गयी जिसकी शुरुआत '60 के दशक के मध्य से होती है। '70 के दशक तक यह संकट चरम पर पहुँच गया। आपातकाल इसी संकट का परिणाम था। इन्दिरा गाँधी की मृत्यु और राजीव गाँधी के आगमन के साथ ही कांग्रेस पार्टी की नीतियों में काफी परिवर्तन हुआ। 1985 के बाद से और खास तौर पर 1990 के बाद से इसने अपनी घरेलू और विदेश नीति दोनों में भारी बदलाव किये। विदेश नीति में इस पार्टी ने गुटनिरपेक्ष की नीति छोड़कर अमरीकी साम्राज्यवाद के साथ गठजोड़ की नीति अपनायी और घरेलू मोर्चे पर भी देश के स्वतंत्र और

आत्मनिर्भर विकास की नीति को तिलांजलि दे दी। दुनिया के वर्ग शक्ति सन्तुलन में बदलावों के अनुरूप ही इस पार्टी ने वैश्विक वित्तीय पूँजी और इसकी कोलैबोरेटर (शत्रु सहयोगी) भारतीय पूँजी की चाकरी स्वीकार कर ली है। देश की जनता और राष्ट्रीय हित के साथ यह कदम-कदम पर गद्दारी करती है तथा विदेश नीति में अमरीकी साम्राज्यवाद की पिछलग्गू की भूमिका में आ चुकी है। अब इसके नेतृत्व का यह मानना है कि भारत का निर्माण भारतीयों को साथ लेकर नहीं किया जा सकता बल्कि साम्राज्यवादी समूह द्वारा प्रस्तुत विश्व पूँजीवादी व्यवस्था और उसकी वित्तीय पूँजी की मदद से ही भारत का विकास सम्भव है। इस नीति पर यह काफी आगे बढ़ चुकी है। अमरीका के साथ नाभिकीय समझौता, ईरान के खिलाफ सुरक्षा परिषद में मतदान करना, फिलिस्तीन का साथ छोड़कर इजराइल से सॉठ-गॉठ करना और अरबों डॉलर के हथियार खरीदना इसके चन्द उदाहरण हैं। इसकी वजह से यह देश और विदेश दोनों जगह अपने पुराने सहयोगियों का विश्वास खो चुकी है और अन्तरराष्ट्रीय मंचों पर काफी अलगाव में है। इस चुनाव के बाद भी इसकी नीतियों में कोई परिवर्तन नहीं होगा और अपनी इसी प्रतिक्रियावादी भूमिका के साथ यह जनता के दुश्मनों की पाँत में खड़ी होगी। पिछले पाँच वर्षों में इस पार्टी के नेताओं ने भ्रष्टाचार और घोटालों के नये-नये कीर्तिमान स्थापित किये हैं। अगर इसकी और इसके गठबन्धन की सरकार बनती है, तो देश को देशी-विदेशी थैलीशाहों को पूर्ववत् सौंपा जाता रहेगा तथा जनता की तबाही, बदहाली और दमन-उत्पीड़न भी बढ़ता रहेगा।

**भाजपा :** इस पार्टी का जन्म हिन्दू सम्प्रदायवाद की कोख से हुआ है। इसकी मातृसंस्था राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ सभी किस्म के प्रतिगामी, पुरातनपंथी और मध्ययुगीन मूल्यों-मान्यताओं का प्रतिनिधित्व करती है। जनसंघ से होते हुए भाजपा तक पैतरा बदलने की इसकी कहानी काफी दिलचस्प है। इसके तीन दुश्मन हैं-- मुस्लिम, इसाई और कम्युनिस्ट। अभी हाल ही में नये सर संघचालक बने मोहन भागवत ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि भारत एक हिन्दू राष्ट्र है। यह एक साम्प्रदायिक पार्टी है, हालाँकि बीच-बीच में भारतीय मध्यवर्ग को आकर्षित करने के लिए 'गाँधीवादी समाजवाद', 'स्वदेशी' और 'उदारवाद' का चोला पहनने और उतारने की कोशिश भी करती रही है। सम्प्रदायवाद के बीज बोना और उसकी फसल काटना, दंगे प्रायोजित कराना इनका पुराना धन्धा है। इनके हिन्दू सम्प्रदायवादी कारनामों ने मुस्लिम सम्प्रदायवाद को फलने-फूलने का मौका दिया है और उसे आगे बढ़ाया है। संगठन और विचारों के मामले में ये फासिस्ट हैं। जर्मन तानाशाह हिटलर इनका आदर्श पुरुष है। ये अपने जन्म से ही विश्व साम्राज्यवाद के मुखर पैरोकार रहे हैं और आज विश्व वित्तीय पूँजी और उसके भारतीय सहयोगियों के सबसे सड़े-गले पक्ष का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनका अन्धराष्ट्रवाद भी इन्हीं की सेवा में समर्पित है। देशी-विदेशी पूँजीपतियों की चाटुकारिता में ये काफी प्रवीण हैं। इस मामले में कांग्रेस भी

इनसे काफी कुछ सीख सकती है और सीख भी रही है।

जनसंघ से होते हुए भारतीय जनता पार्टी की यात्रा में इन्दिरा गाँधी द्वारा लागू आपातकाल और जयप्रकाश नारायण के जनान्दोलनों की आड़ में ये राजनीति की मुख्य धारा में आये, इनकी सामाजिक स्वीकार्यता बनी तथा फूले-फले और बढ़े। जनता पार्टी के घटक के रूप में इनका विस्तार हुआ और ये तात्कालिक मोरारजी सरकार में शामिल हुए। बीच में इनकी स्थिति कमजोर हो गयी थी जब इन्होंने गाँधीवादी समाजवाद की माला फेरना शुरू किया था। 1980 में भाजपा बन गयी। 1984 के लोकसभा चुनाव में इन्हें सिर्फ दो सीटें मिली थीं। इसके बाद इन्होंने काफी सोच-समझकर सम्प्रदायवाद, धार्मिक अंधविश्वास और कट्टरता की आँधी चलायी जिसके परिणामस्वरूप हजारों निर्दोष हिन्दू-मुसलमान दंगों की भेंट चढ़े। 1992 में बाबरी मस्जिद गिरा कर यह केन्द्र में सरकार बनाने की स्थिति में पहुँची और गठबन्धन की सरकार बनायी। इस दौरान जहाँ घरेलू मोर्चे पर इस पार्टी ने प्रतिक्रियावादी नियम-कानून जनता पर थोपे वहीं विदेशी पूँजीपतियों के आगे आत्मसमर्पण करने में इसने कांग्रेस को भी पीछे छोड़ दिया। पहले इसने महाराष्ट्र में पहले एनरॉन नामक अमरीकी बिजली कम्पनी का विरोध करके वोट बटोरा और सत्ता में आते ही उसे और भी अधिक सहूलियतों के साथ इजाजत दे दी।

कुर्सी की भूख इस पार्टी के नेताओं में भी किसी से कम नहीं है। इस चुनाव में भाजपा ने नरेन्द्र मोदी को प्रधानमंत्री पद का प्रत्याशी घोषित किया है। मीडिया प्रचार पर करोड़ों-अरबों खर्च कर इनकी छवि विकास पुरुष की बनायी गयी है और एक झूठी लहर का हौवा खड़ा किया जा रहा है।

इसके उदय-विकास और विस्तार के लिए भारतीय समाज के बढ़ते संकट के दौर में धर्म निरपेक्षता का जाप करने वाली दूसरी पार्टियों का घृणित अवसरवाद और पदलोलुपता मुख्य रूप से जिम्मेदार है।

इस बार अगर ये सत्ता में आते हैं तो इनकी नीतियों का दुष्परिणाम होगा-- देशी-विदेशी पूँजी को लूट की खुली छूट, जैसा कि गुजरात में विकास के नाम पर हुआ। साथ ही एक बात भी तय है-- गृह कलह, दंगे-फसाद और प्रतिक्रियास्वरूप मुस्लिम सम्प्रदायवाद का विस्तार। बात देश के टुकड़े होने तक जा सकती है। ये जितने जोर-जोर से गला फाड़ कर अखण्ड भारत की बात करते हैं, सम्भावना उतनी ही बढ़ती जाती है कि ये देश को टुकड़ों में बाँट देंगे। पूँजीवाद का सबसे प्रतिक्रियावादी रूप-- फासीवाद और नाजीवाद इनका आदर्श है। यहाँ तक कि इनके एक प्रमुख नेता और प्रतिकारत प्रधानमंत्री जो गुजरात नरसंहार के लिए कुख्यात हैं, हिटलर बनने का ख्वाब देखते हैं।

इनकी आर्थिक नीति, घरेलू नीति व विदेश नीति कांग्रेस पार्टी की प्रतिक्रियावादी नीतियों से कहीं अधिक प्रतिक्रियावादी और सड़ी-गली है। अगर कांग्रेसी देशी-विदेशी

पूँजीपतियों के सामने घुटने टेकते हैं तो ये पेट के बल लेट जाते हैं और अगर कांग्रेसी लेटते हैं तो ये रेंगने लगते हैं।

**वामपंथी गठबंधन :** भारत के संसदीय वामपंथ ने मजदूर वर्ग की विचारधारा और अपने क्रान्तिकारी कार्यक्रम को बहुत पहले ही ठण्डे बस्ते में डाल दिया था और अब तो वे पूरी तरह त्याग चुके हैं। इनकी नीतियाँ इस बात को साबित करती हैं। ये थोड़ी ना-नुकुर करके देशी-विदेशी पूँजी को न्यौता दे देते हैं, उसे अपने यहाँ आमंत्रित कर लेते हैं। इनके पास इसके आलावा अब कोई विकल्प नहीं बचा है कि ये देशी-विदेशी थैलीशाहों की सेवा में जुट जायें। कभी एक, कभी दो, कभी तीन प्रान्तों में इनका शासन रहा है। ये इससे आगे नहीं बढ़ पाते। शासन-प्रशासन चलाने के लिए ये भी अन्य राजनीतिक पार्टियों की तरह ही हथकण्डे अपनाते हैं। ये कभी रूसी साम्राज्यवाद के हिमायती हुआ करते थे, मगर उसके विघटन के बाद ये एक नयी विदेश नीति का अनुसरण करना चाहते हैं, पर अभी तक कुछ निश्चित नहीं कर पाये हैं।

समाजवादी सोच से इनके रिश्ते खत्म हो चुके हैं। ये पूँजीवादी व्यवस्था के जबरदस्त हिमायती बन कर उभरे हैं तथा उनके विश्वस्त और ईमानदार रक्षक हैं। ये राष्ट्रवाद के हिमायती हैं तथा उपर्युक्त दोनों पार्टियों से ज्यादा राष्ट्रवादी हैं। अब भारत का पूँजीपति वर्ग इन पर ज्यादा भरोसा कर सकता है। इनके नेताओं के साथ टाटा और अम्बानी की मुलाकातें और गुफ्तगू होने लगी हैं। अमरीका के साथ नाभिकीय समझौते को लेकर संसद में इन्होंने जो भूमिका निभायी थी उससे इनकी साख बढ़ी थी, लेकिन जनाधार विहीन और बैठक कक्षों की राजनीति करने वाले नेतृत्व के चलते ये उसे आम जनता तक नहीं ले जा सके और गोपालन भवन तक ही यह विरोध सीमित रहा। आज भ्रष्ट, पदलोलुप और अवसरवादी नेताओं के साथ तीसरे मोर्चे का गठन करके ये नारद-मोह का परिचय दे रहे हैं और उपहास का पात्र बनते जा रहे हैं। इलाकाई प्रभाव वाली पार्टियों के कुख्यात नेताओं और पूँजीवाद के पैरोकारों के साथ मिलकर विकल्प की बातें कर रहे हैं ये शायद बहुत पहले ही भूल चुके हैं कि 'मोर्चा' समान नीतियों और मजबूत जनाधारों को लेकर संघर्ष के दौरान बनता है, संसदीय जोड़-तोड़ से नहीं। अब व्यवहारवाद ही इनकी नीतियों का पथप्रदर्शक है, मार्क्सवादी सिद्धान्त नहीं। यह व्यवहारवाद पूँजीवाद का ही एक रूप है, बल्कि पूँजीवाद ही है।

उक्त तीनों पार्टियाँ आज तीन अलग-अलग गठबंधनों का नेतृत्व कर रही हैं—संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन, राष्ट्रीय लोकतांत्रिक गठबंधन और तीसरा मोर्चा। इन गठबंधनों के घटक दल एक-दूसरे को छोड़ रहे हैं, एक-दूसरे में आ-जा रहे हैं। आया राम, गया राम का खेल यह साबित करता है कि आज पार्टियों की सिद्धान्तहीनता का स्तर कहाँ पहुँच चुका है। घरेलू और विदेश नीति में थोड़े-बहुत फर्क के बावजूद तीनों ही गठबंधन भारतीय पूँजीवाद और इसके सहयोगी, विश्व वित्तीय पूँजी की सेवा करने को आतुर हैं।

**क्षेत्रीय पार्टियाँ :** पंजाब में अकाली दल, कश्मीर में नेशनल काँग्रेस और पीपुल्स डेमोक्रेटिक पार्टी और उत्तर प्रदेश में समाजवादी पार्टी और बहुजन समाज पार्टी तथा राष्ट्रीय लोकदल, बिहार में लालू यादव की राष्ट्रीय जनता दल और रामविलास पासवान की लोक जनशक्ति पार्टी, बंगाल में ममता बनर्जी की तृणमूल कांग्रेस, असम में असम गण परिषद, उड़ीसा में नवीन पटनायक की बीजू जनता दल, आन्ध्र प्रदेश में चन्द्रबाबू नायडू की तेलगू देशम्, तमिलनाडु में जयललिता की अन्ना द्रमुक और करुणानिधि की द्रमुक, कर्नाटक में देवगौड़ा की जनता दल (एस), हरियाणा में चौटाला की इण्डियन नेशनल लोकदल आदि पार्टियों का सामाजिक आधार आजादी के बाद भूमिसुधार, हरित क्रान्ति और आरक्षण जैसी नीतियों से पैदा हुए नवधनाढ्य वर्ग, कुलीन वर्ग, नव भूस्वामी वर्ग और स्थानीय छोटे उद्यमी वर्ग हैं। उन्हीं के हितों और महत्त्वकांक्षाओं को ये पार्टियाँ स्वर भी देती हैं। हालाँकि आज के दौर में ये अपने समर्थकों को बहुत कुछ दे नहीं सकती, लेकिन कुछ हद तक उनकी फिक्र जरूर करती रहती हैं। आज इनका सारा ध्यान अपने स्वार्थों की पूर्ति में रहता है। ये पार्टियाँ भी आज देशी-विदेशी पूँजीपतियों की सेवा में लगी हुई हैं। इन सबकी विचारधारा पूँजीवादी है। कभी सामाजिक न्याय के लिए संघर्ष करने वाली ये पार्टियाँ अब चुनाव में जाति, मजहब, इलाका आदि सभी हथकण्डों का धड़ल्ले से इस्तेमाल करती हैं। अपने-अपने प्रभाव क्षेत्रों में इनका मकसद है चुनाव जीतना और सरकारें बनाना, पैसे बनाना और जनता को लूटना तथा अपनी विरोधी पार्टियों के नेताओं के पीछे अक्सर जाँच बैठाना। जब मायावती ने मुलायम के ऊपर जाँच बैठाई तो वे कांग्रेस के पाले में चले गये। तभी उनको राहत मिली। जब मुलायम सत्ता में थे तो उन्होंने भी इन्हीं खोजी कुत्तों को मायावती के खिलाफ लगाया था और तब मायावती ने भी कांग्रेस के साथ समझौता किया था। केन्द्रीय सत्ता से जुड़ने का एक प्रमुख कारण यह भी है कि जिस सामाजिक और वैचारिक आधार पर इन पार्टियों का उदय हुआ था। वह आज के दौर में खिसक गया है और उसका चरित्र बदलते-बदलते राष्ट्रीय हो गया है। जिन कुलकों और नवधनाढ्य वर्गों का ये प्रतिनिधित्व करते हैं, उनकी महत्त्वकांक्षा अब केन्द्रीय स्तर पर ही पूरी हो सकती है, क्षेत्रीय स्तर पर नहीं। इस तरह अब ये पिछड़ी जातियों, दलित जातियों, किसानों, छोटे उद्यमियों आदि के एक छोटे से हिस्से के ही प्रतिनिधि बन कर रह गये हैं और व्यापक आबादी के साथ राष्ट्रीय पार्टियों की तरह ही ये भी गद्दारी भरा व्यवहार करते हैं। अपने क्षुद्र स्वार्थों के लिए यह किसी भी तरह के समझौते के लिए तैयार रहते हैं। ये सिद्धान्तहीनता की विचित्र मिसाल पेश करते हैं, जिसके लिए कोई नया शब्द ढूँढना पड़ेगा। नीतियाँ, सिद्धान्त और कार्यक्रम इनकी नजर में रद्दी के टुकड़े से अधिक कुछ भी नहीं है। जोड़-तोड़, तीन-तिकड़म इनका दिन रात का काम है। चुनाव के बाद उक्त तीनों गठबंधनों में से किसी एक के साथ जुड़ना इनकी नीयति है।

**आम आदमी पार्टी :** लोकपाल बिल के लिए चलाये गये भ्रष्टाचार विरोधी अन्ना हजारे आन्दोलन के एक प्रमुख धड़े ने केजरीवाल के नेतृत्व में आम आदमी पार्टी का गठन किया। इसने भ्रष्टाचार के विरुद्ध धर्मयुद्ध छेड़ने को अपना प्रमुख लक्ष्य बनाया। इसके नेतृत्वकारी लोगों में स्वयं सेवी संगठनों (एनजीओ) से जुड़े लोगों का एक हिस्सा, वकीलों, पत्रकारों और मध्यवर्ग के ऊपरी तबके के कुछ लोग हैं। इस पार्टी का वर्ग आधार भी खाते-पीते शहरी मध्यवर्ग में है। 1991 के बाद वैश्वीकरण-उदारीकरण-निजीकरण से लाभ उठाने वाले लोग जिनको इस व्यवस्था में सिर्फ भ्रष्टाचार ही बुरा लगता है, बाकी कोई शिकायत नहीं, इसके करीब आये हैं। कुछ मुक्तमना वामपंथी बुद्धिजीवी, ईमानदार पदलोलुप लोग और विकल्पहीनता की स्थिति में कुछ होने की उम्मीद लगाये भोलेभाले लोग भी इसमें शामिल हो रहे हैं। सापेक्षिक पूँजीवादी ईमानदारी इस पार्टी का केन्द्रीय विचार है जिस पर टिके रहना भी आज के राजनीतिक वातावरण में दुष्कर है। यही कारण है कि अक्सर इनके नेताओं के संदिग्ध आचरण को लेकर कोई न कोई विवाद खड़ा होता रहता है।

भ्रष्टाचार को लेकर भी इस पार्टी के नेताओं का नजरिया बहुत साफ नहीं है। इनके लोकपाल के दायरे में पूँजीप्रतिष्ठान, एनजीओ, मीडिया इत्यादि नहीं शामिल थे, केवल नेताओं और अधिकारियों पर ही इनका निशाना था। भ्रष्टाचार में आपादमस्तक डूबी इस पूँजीवादी व्यवस्था की जड़ पर प्रहार करने के बजाय ये केवल उसमें सतही सुधार चाहते हैं। इनके नेता ने स्पष्ट भी कर दिया कि उनकी पार्टी पूँजीवाद के खिलाफ नहीं, संगी-साथी पूँजीवाद (क्रोनी कैपिटलिज्म) के खिलाफ है। मजेदार बात यह कि भ्रष्टाचार के खिलाफ धर्मयुद्ध करने वाली इस पार्टी ने पहली बार चुनाव लड़कर दिल्ली में एक भ्रष्टतम पार्टी के समर्थन से सरकार भी बना ली। उम्मीद यही है कि इस पार्टी का भी वही हथ्र होना है जैसा ऊपर वर्णित पार्टियों का हुआ है। फिलहाल यह सभी प्रमुख पार्टियों के प्रति जनता में व्याप्त आक्रोश को कुछ हद तक ठण्डा करने में सहायक हो रही है।

संक्षेप में यही है चुनाव में शिरकत कर रहीं विभिन्न रंगधारी-नामधारी पार्टियों का चरित्र, इनका सामाजिक आधार और इनका उद्देश्य। ऐसी स्थिति में अगर आधे से अधिक लोग मतदान करें या न करें तो भी इनका कुछ नहीं बिगड़ेगा। 'इनमें से कोई नहीं' यानी नोटा वाले बटन को दबाने से भी कुछ हाथ नहीं आने वाला। जितना मतदान होगा उसी के बल पर कोई न कोई जीतेगा और सरकार अवश्य बनेगी।

हालाँकि व्यवस्था परिवर्तन की लड़ाई में लगे कुछ छोटे-बड़े संगठन भी राजनीति में सक्रिय हैं। लेकिन अभी वे किसी विकल्प का निर्माण करने में असमर्थ हैं। ये संगठन जब तक जनान्दोलनों द्वारा व्यवस्था परिवर्तन की लड़ाई में जनता के बड़े हिस्से को अपने साथ खड़ा नहीं करते, तब तक जनता के सामने क्रान्तिकारी विकल्प का अभाव बना रहेगा।

## वंशवाद और लोकतंत्र

-विक्रम

आज सभी पार्टियों में कुनबापरस्ती का बोलबाला है। अखिलेश यादव मुलायम के उत्तराधिकारी हैं। जयंत चौधरी अजित सिंह के वारिस हैं। बाल ठाकरे की पार्टी शिव सेना में बेटे और भतीजे को लेकर झगड़ा हुआ तो "हिन्दू हृदय सम्राट" ने धृतराष्ट्र की तरह अपने पुत्र के पक्ष में शिव सेना को ही दो फाड़ कर दिया था। शरद पवार की पुत्री, मुरली देवड़ा के पुत्र, करुणाकरण, रामदोस, चिदम्बरम, देवगौड़ा, यशवन्त सिंह, वसुन्धरा राजे, संजय-मेनका गाँधी, फारूख अब्दुल्ला, छगन भुजबल, नारायण राणे, सुनील दत्त, चौटाला, हुड्डा, भजनलाल, माधवराव सिंधिया, राजेश पायलट, कल्याण सिंह, लालू यादव, राम बिलास पासवान, राजनाथ सिंह जैसे तमाम छोटे-बड़े नेताओं के पुत्र-पुत्रियाँ चुनाव मैदान में हैं। राहुल गाँधी के बारे में तो कहना ही क्या, वे चौथी पीढ़ी के वारिस हैं। मुँह में चाँदी का चम्मच लेकर पैदा होने वाले इन नेता पुत्रों-पुत्रियों की सूची बहुत लम्बी है। इनका लालन-पालन और शिक्षा देश-विदेश के आलीशान, सुरक्षित और राजसी स्कूलों-कॉलेजों में हुई है। पढ़ाई के दौरान ये राजनीतिक गतिविधियों से दूर रहते हैं। यहाँ तक कि वे छात्र-संघ के सदस्य तक नहीं होते। हर मायने में फिसड्डी और निकम्मे ये नेता पुत्र-पुत्रियाँ इस देश की धरती पर कदम रखने और पार्टी में घुसने के क्षण ही अपनी "पैतृक पार्टी" के सबसे प्रभावशाली नेता बन जाते हैं। इसके लिए इनकी एक ही योग्यता सब पर भारी पड़ जाती है कि वे अपने-अपने पिताओं के पुत्र-पुत्रियाँ हैं। पुत्राधिकार के रूप में मिलने वाला यह उत्तराधिकार इनका पैदायशी हक होता है। ठीक उसी तरह जैसे कबीलों के सरदारों की रस्म-पगड़ी हुआ करती थी। इन पार्टियों के पुराने नेता और कार्यकर्ता कैसे इसे बर्दाश्त कर लेते हैं, इसे समझना कठिन नहीं है। इनमें से ज्यादातर लोग राजा-प्रजा की सामन्ती मानसिकता और मूल्यों से ग्रसित होते हैं। सक्षम नेताओं को किनारे लगाकर ऊँची रसूख वाले तिकड़मबाजों और चापलूसों को इन पार्टियों में तरजीह दी जाती है। इन बातों के वे आदी हो जाते हैं। पार्टी का दामन पकड़कर लखपति-करोड़पति बनने का ख्वाब पालने वाले राजनीतिक पार्टियों के इन चापलूसों को भला यह बात बुरी क्यों लगेगी कि किसी शीर्षस्थ नेता का निकम्मा बेटा किसी बड़े नेता की जगह पदासीन हो जाये।

वामपंथियों को छोड़कर बाकी सभी पार्टियों की कार्यप्रणाली लगभग एक समान है। ज्यादातर पार्टियों के सिद्धान्तों और घोषणापत्रों का व्यवहार में कोई मायने नहीं है। आज



इनके पास जनता के लिए कोई सकारात्मक कार्यक्रम नहीं है। सभी पार्टियों के नेता और कार्यकर्ता लफ्फाज हैं और एक-दूसरे पर कीचड़ उछाल कर ही अपनी श्रेष्ठता साबित करते रहते हैं। इनकी पार्टी में नये सदस्यों की भर्ती का कोई उचित मानदण्ड भी नहीं है। किसी बात का विरोध करने पर कार्यकर्ताओं को सीधे बाहर का रास्ता दिखा दिया जाता है। पार्टी के भीतर लोकतांत्रिक प्रणाली नाम की कोई चीज नहीं है। पार्टी हाईकमान पूरी तरह स्वेच्छाचारी होता है। उसकी मर्जी ही पार्टी की मर्जी होती है और कार्यकर्ताओं से उम्मीद की जाती है कि वे रोबोट की तरह आज्ञा-पालन करें। चंद लोगों के इर्द-गिर्द केन्द्रित इन पार्टियों के अन्दर कार्यकर्ताओं को लोकतांत्रिक व्यवहार करना नहीं सिखाया जाता। उन्हें इस बात का पता भी नहीं होता कि लोकतंत्र की पहली सीढ़ी 'अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता' होती है। क्या ऐसी पार्टियों से यह उम्मीद की जा सकती है कि ये पूरे समाज में लोकतंत्र की लड़ाई लड़ेंगे? ये तो लोकतंत्र के नाम पर जनता को सिर्फ बेवकूफ ही बना सकती है। यही वह जमीन है जो इन पार्टियों के भीतर वंशवाद को खाद-पानी देने का काम करती है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि आज सभी संसदीय पार्टियाँ "फेमली इण्टरप्राइजेज" या "प्राइवेट लिमिटेड एण्ड सन्स कम्पनी" में बदल जाती है। इस कारोगार में बहुत ही कम निवेश करके ऊँची आमदनी की गारण्टी की जा सकती है। किसी ने ठीक ही कहा है कि, "सियासत में जलालत तो है लेकिन यह एक ऐसा धन्धा है, जिसमें कभी भी घाटा नहीं होता।" भारत के नेता पूँजीवादी हैं, लेकिन उनके मूल्य और संस्कार सामंती हैं। ये परिवार की सीमाओं से आगे नहीं सोच पाते, समाज और देश तो बड़ी बात है। ये लोग देश-निर्माण के लिए त्याग भावना से ओत-प्रोत होकर राजनीति में नहीं आते, देश के लिए खून तो क्या नाखून भी नहीं देते। राजनीति के चलते अगर कुछ भी गँवाने की बात आती तो ये परिवार को इससे दूर ही रखते या वे खुद ही दूर हो जाते। आजादी के पहले कांग्रेसी और बाद के साम्यवादी-समाजवादी नेताओं के परिजन और उनकी संताने उन्हें कोसती रहती थीं कि राजनीति में जाकर उसने परिवार के लिए कुछ नहीं किया, उल्टे उन्हें कंगाल बना दिया। वे बहुत चाहते थे कि अपनी संतानों को उत्तराधिकारी बनायें, लेकिन शायद ही बना पाते थे।

हमारे देश की मीडिया फिदेल कास्त्रो द्वारा अपने भाई राउल कास्त्रो को उत्तराधिकारी बनाने पर चिल्ल-पों मचाती है जबकि राउल ने फिदेल के साथ क्यूबा की क्रान्ति में जान जोखिम में डालकर बहादुरी के साथ संघर्ष किया था। राउल की पहचान फिदेल के भाई के रूप में नहीं, बल्कि एक क्रान्तिकारी योद्धा के रूप में है। उनका अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व है, उनके पास क्रान्ति की विरासत और व्यवहारिक अनुभव है। वे इसके लिए योग्य हैं। कास्त्रो की विरासत सम्भालना, क्यूबा की क्रान्ति को आगे बढ़ाने का मामला है। यह काँटों का ताज है जिसमें हर घड़ी जान का खतरा है, क्योंकि अमरीकी साम्राज्यवादी कास्त्रो की ही नहीं, उनके उत्तराधिकारी की भी जान के प्यासे हैं। लेकिन दूसरी ओर मीडिया दिन-रात

देशी नेता-पुत्रों की विरुदावली गाने में लिप्त रहता है।

राजाओं, नवाबों द्वारा सामंती समाज में वंशवाद, भ्रष्टाचार और जनता की सम्पत्ति से खजाना भरना बुरा नहीं माना जाता था। उन्हें सम्मान से देखा जाता था। सामंती काल में ऐसा स्वाभाविक भी था। लेकिन आज यही सोच न केवल राजनीतिक पार्टियों को अपनी गिरफ्त में लेती जा रही है, बल्कि आम जनता के संस्कारों में घुल-मिलकर ऐसी पार्टियों के बने रहने के लिए सामाजिक स्वीकार्यता प्रदान करती है। वंशवाद अमीर नेताओं की संतानों को मिलने वाला जन्मजात आरक्षण है जबकि वे खुद गरीबों को दिये जाने वाले आरक्षण और सरकारी सहायता के घोर विरोधी होते हैं। गरीब आदमी वंशवाद के नामपर विरासत में अपने बेटे को प्रेमचंद की कहानी 'सवा सेर गेहूँ' की तरह कर्ज का बोझा ही दे सकता है।

हमें इन बातों का एहसास होना चाहिए कि ये आधुनिक नवाब हमारे कंधे पर सवारी गाँठ रहे हैं और हम इन्हें अपने कंधे से उतार भी सकते हैं। इसके लिए हमें राजनीति में उतरना होगा। गंदी राजनीति से चिढ़कर, गैर-राजनीतिक होकर, हमें उनके वंशवाद के लिए खुला मैदान नहीं छोड़ना चाहिए, बल्कि सक्रिय राजनीति में शामिल हो कर इस धिनौनी राजनीति को मिटाने का प्रयास करना चाहिए। इसके लिए हमें राजनीति की उस धारा को मजबूत बनाना होगा जो भगत सिंह, सुभाष चन्द्र बोस और चन्द्रशेखर आजाद की धारा है। यही आज समय की माँग है।

## राजनीति का अपराधीकरण या अपराध का राजनीतिकरण

'नेशनल इलेक्शन वाच' के एक सर्वेक्षण के अनुसार 15वीं लोकसभा में 543 में से 162 सांसदों पर आपराधिक मामले दर्ज थे। इनमें से 76 (14 प्रतिशत) पर गम्भीर आरोप थे। राज्य सभा के 232 सदस्यों में से 56 सदस्यों पर आपराधिक मामले दर्ज थे। इनमें से 65 प्रतिशत सांसदों को दुबारा टिकट दिया गया था। सर्वेक्षण के अनुसार 16वीं लोकसभा चुनाव के लिए अब तक पर्चा भरने वाले 280 उम्मीदवारों में से लगभग 30 प्रतिशत उम्मीदवारों पर आपराधिक मुकदमें दर्ज हैं। 13 प्रतिशत उम्मीदवारों पर हत्या और बलात्कार के संगीन मुकदमें दर्ज हैं। देश की दो बड़ी पार्टियों- भाजपा और कांग्रेस के 30 प्रतिशत उम्मीदवारों पर आपराधिक मुकदमें दर्ज हैं, यानि हर तीसरे उम्मीदवार पर आपराधिक मुकदमें हैं। इनमें से 60 प्रतिशत उम्मीदवार करोड़पति हैं। भाजपा के येदुरप्पा और कांग्रेस के पवन बंसल सहित हर पार्टी में ऐसे नेता हैं जिन पर भ्रष्टाचार के मुकदमें दर्ज हैं, फिर भी वे चुनाव लड़ रहे हैं।

कुख्यातों की इस सूची में कांग्रेस, भाजपा, राजद, सपा, बसपा, डीएमके सहित तमाम पार्टियों के उम्मीदवारों के नाम शामिल हैं।

राजनीति का अपराधीकरण तथा आपराधिक पृष्ठभूमि वाले लोगों का सांसद, विधायक और मंत्री बनना आज सामान्य बात हो गयी है। राजनीतिक पार्टियों के नेता न सिर्फ खुलेआम इस बात को स्वीकारते हैं और इसकी वकालत करते हैं, बल्कि वे अपराधियों के साथ अपने सम्बन्धों की डींग भी हाँकते हैं।

1952 में हुए पहले आम चुनाव से ही हमारे देश की राजनीति में बाहुबलियों का प्रभाव रहा है। '60-'70 के दशक तक इन अपराधियों की राजनीति में प्रत्यक्ष भागीदारी नहीं होती थी। वे नेताओं के लिए बूथ कब्जाने या मतदाताओं को डरा-धमका कर उनका वोट डलवाने का काम पर्दे के पीछे से ही करते थे। बदले में राजनीतिक पार्टियों के नेता उन्हें संरक्षण देते थे। आज स्थिति बदल गयी है। अब अपराधी ही नेताओं के संरक्षक हैं। पर्दे की ओट में शिकार करने वाले अब सरेआम संसद, विधानसभाओं और मंत्रीपदों की शोभा बढ़ाने लगे हैं।

कुछ साल पहले राजनीति के अपराधीकरण पर बोहरा कमेटी की रिपोर्ट आयी थी जिस पर पूरे देश में चर्चा-परिचर्चा हुई थी। लेकिन उसके बाद से स्थिति बद से बदतर ही होती गयी है। चुनाव आयोग के अनुसार 11वीं लोकसभा के 40 सदस्य और राज्य विधान सभाओं के 700 सदस्य आपराधिक पृष्ठभूमि वाले थे। अपराधीकरण की रोक-थाम के लिए चुनाव आयोग ने प्रत्याशियों से हलफनामा लेना शुरू किया जिसमें उनके ऊपर आपराधिक अभियोगों का ब्योरा हो। लेकिन इससे कोई फर्क नहीं पड़ा। चुनाव आयोग ऐसे लोगों को चुनाव लड़ने से रोक सकता है जिन्हें अपराध के लिए सजा मिल चुकी हो, लेकिन जिन पर आपराधिक मुकदमें चल रहे हों उनका वह कुछ नहीं बिगाड़ सकता।

राजनीति के बढ़ते अपराधीकरण के साथ-साथ कार्यपालिका (पुलिस और प्रशासनिक अधिकारी) और न्यायपालिका (छोटी-बड़ी कोर्ट कचहरियों) में भ्रष्टाचार तेजी से बढ़ा है। सच तो यह है कि आज अपराध का ही राजनीतिकरण हो चुका है। अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए समाज के ऊपरी तबकों ने आपस में अपवित्र गठजोड़ कर लिया है। धूमिल के शब्दों में वे 'अपराधियों का एक संयुक्त परिवार' बन गये हैं। इस स्थिति में किसी भी तरह के सुधार की सम्भावना तलाशने वाले – बुद्धिजीवी, पत्रकार और स्वयंसेवी संस्थाओं से जुड़े लोग या तो बहुत ही नादान हैं या फिर बड़े शांतिर दिमाग लोग हैं जो जनता को भरमाने के लिए बेसिरपैर की बातें कर रहे हैं। अदम गोण्डवी ने ठीक ही कहा है—

**जिस शहर में मुन्तजिम अंधे हों जलवागाह के,**

**उस शहर में रौशनी की बात बेबुनियाद है।**

इस परिस्थिति में बदलाव तो जनता की संगठित शक्ति और संघर्ष के दम पर ही सम्भव है।